माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान द्वारा स्वीकृत *उच्च माध्यमिक* कक्षा 12 हेतु
अनिवार्य हिन्दी की पाठ्यपुस्तक]

ज्योति पुरुष

[विवेकानंद के जीवन पर आधारित नाटक]

डॉ. सत्येन्द्र पारीक
उपाचार्य,
राजकीय कन्या महाविद्यालय, टोंक

माया प्रकाशन मन्दिर, जयपुर

इस पुस्तक के मुद्रण में H.P.C. मिल का 58 G.S.M. वजन का कागज व मुखपृष्ठ हेतु H.P.C. मिल की 130 G.S.M. वजन की कार्डशीट प्रयोग में ली गई है।

प्रस्तुत नाटक

प्रस्तुत नाटक 'ज्योतिपुरुष' मेरे पूर्ण नाटकों 'प्यासा दरिया', 'पारसमणि', 'ढाई आखर' तथा 'भावना' के क्रम की पाँचवीं कड़ी है।

विवेकानन्द का नाम सुनते ही हमारे मानस-पटल पर चमकती हुई बड़ी-बड़ी आँखों उन्नत भव्य ललाट और तेजोद्दीप्त मुखमण्डल वाले एक ऐसे दिव्य युवक की छवि सहज हीं अंकित हो जाती है, जिसने न केवल विदेशियों के द्वारा पदाक्रान्त भारतीय गौरव-गरिमा को सम्बल प्रदान कर अपने ही पैरों पर खड़े होने की सामर्थ्य दी, बल्कि कुण्ठित एवं आहत मानवता में अपने ओजस्वी विचारों के द्वारा स्वाभिमान से सिर ऊँचा करने की अपूर्व प्रेरणा भी जगाई। जिसने भारत की आत्मा को सच्चे रूप में परखा-पहिचाना और जो आध्यात्मिक राष्ट्रीयता को अपने जीवन का सर्वोच्च ध्येय मानकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक उत्थान व एकता का अलख जगाते हुए जगह-जगह घूमता रहा।

सच तो यह है– विवेकानन्द अपने युग की 'महती आवश्यकता' थे।

उन्होंने 'जाति' को कभी 'धर्म' का अंग नहीं माना तथा धर्म की आड़ में पनप रहे 'निहित स्वार्थों' के द्वारा किए गए 'कृत्रिम विभाजनों' का जमकर विरोध किया। उनके अन्तस् में भारत के दलितवर्ग की पीड़ा मानो जमी हुई थी, जिसे मिटाने के लिए वे आजीवन छटपटाते रहे। जीवन में 'कर्म' की प्रधानता का बोध कराती उनकी विशाल पुष्ट भुजाओं में सम्पूर्ण विश्व की मानवता को समेट लेने की अपूर्व क्षमता थी। उनके सिंहनाद में वह धकधकाती आग थी, जिसने देश की युवापीढ़ी में आत्मबोध, आत्माभिमान और आत्मत्याग का नूतन प्राण सचरित कर उन्हें संपूर्ण प्राणिमात्र के हितार्थ जीने-मरने की भावना से आपूरित कर दिया।

वे कट्टर राष्ट्रवादी थे। उनके राष्ट्रवाद का अन्तिम लक्ष्य था– समग्र मानव जाति की सेवा के साथ ही साथ भारतीयों की दीनता एवं अज्ञान का नाश। उनके राष्ट्रवाद के इस 'रथ' को 'धर्म' ने 'गति' प्रदान की और 'कर्म' ने 'प्रेरणा'। उन्होंने सांस्कृतिक चेतना का शखनाद कर सोये हुए भारत को जगाया तथा उसे उसके गौरवशाली अतीत से परिचित कराने के साथ ही साथ वेदों और उपनिषदों के प्राचीन 'आत्मज्ञान' के सन्देश को आक्षितिज पश्चिम तक गुंजरित किया।

भारतीय नारी के प्रति उनके मन में गहरी संवेदना और समादर का भाव था। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' को किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के विकास का मूलमंत्र मानते हुए उन्होंने नारी शिक्षा का भरपूर समर्थन किया तथा इसे नारी के 'शक्ति' रूप की सार्थकता के लिए आवश्यक भी माना।

ऐसे बहुआयामी, विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न प्रखर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जितना कहा जाए, कम है। 'ज्योतिपुरुष' की रचना के बीच यह अनुभूति मुझे बारबार होती रही तथा मैं बारबार इस दुविधा से घिरता रहा कि नाटक के सीमित कलेवर में उस युगान्तकारी व्यक्तित्व के किस पक्ष को समेटूँ, किसे छोड़ूँ ? 'लेखकीय मोह' में पड़कर मैंने अपनी अंजलि में 'अधिकाधिक' को भरने का भरसक प्रयास भी किया, पर विफल ही रहा - कुछ नया समेटता तो 'पुराना' फिसलकर अंजलि की पकड़ से छूट जाता। 'इसे' पकड़ता तो 'वो' सटक जाता, 'उसे' पकड़ता तो 'वो' निकल भागता। दूसरी दुविधा थी दर्शन की 'दुरूहता' की। उसे मैंने यथासाध्य सहज बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयास में मैंने 'मानवता, प्रेम, करुणा, सहजता, समानता व कोमल संवेदना' को ही अपना आधार बनाया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी खींचतान के बीच नाटक की रचना को स्वतः गति मिलती रही तथा इसी की सुखद परिणति है मेरा यह नाटक 'ज्योतिपुरुष'।

इसकी रचना में मुझे अनेक रचनाकारों की रचनाओं से दिशा मिली है। मैं विनम्र भाव से उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अपने इस विनम्र प्रयास में मैं कितना सफल हो पाया हूँ, कथानायक के प्रति मैं कितना 'न्याय' कर सका हूँ, 'कल्पना' की उड़ानों के बीच 'सत्य' की कितनी रक्षा हो सकी है मुझसे, मैं नही जानता। इसका निर्णय तो मैं सुधीजन पर ही छोड़ता हूँ। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि संवाद और भाषा-सयोजना में मुझे 'भावों' से कड़ा संघर्ष करना पड़ा है, किन्तु मैंने 'शब्दों' को कहीं पर भी 'भावों' से हारने नही दिया है।

अपना यह नया नाटक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यधिक सुख एवं सन्तोष का अनुभव हो रहा है। यदि इससे हमारी आज की युवा पीढ़ी को तनिक भी प्रेरणा मिली तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

डॉ. सत्येन्द्र पारीक

नाटक : सिद्धान्त-परिचय

मनुष्य एक अनुकरणप्रिय प्राणी है, वह जीवन के सभी क्षेत्रों में अनुकरण करना चाहता है और करता भी है। आकाश में उड़ते पक्षियों को देखकर उसके मन में भी इसी भाँति मुक्त रूप से उड़ने की इच्छा उत्पन्न हुई, फलतः वायुयान का आविष्कार हुआ और वह रहस्यमय ग्रह-नक्षत्रों की अनन्त दूरी को नापने का प्रयास भी कर रहा है। कहना न होगा कि साहित्य क्षेत्र में नाटक का जन्म मनुष्य की इसी 'अनुकरण' की प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

जीवन में नाटक का महत्व कम नहीं है। नाटक वास्तव में 'जीवन की झलकी' ही है और जीवन भी एक नाटक की भाँति है, जिसमें कई उतार-चढ़ाव आते हैं, गम्भीर मोड़ आते हैं, दृश्यों की भाँति परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। नाटक का अस्तित्व मानव-जीवन में बहुत प्राचीनकाल से रहा है। प्राचीनकाल में किए जाने वाले नटों के खेल इसी का प्रारम्भिक स्वरूप है। वस्तुतः यह सर्वसाधारण के मनोरंजनार्थ किए जाते थे। आगे चलकर इसके स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। प्राचीनकाल में इसे राजदरबारों में बहुत प्रिय स्थान उपलब्ध हुआ। संस्कृत-साहित्य में नाटकों की भरमार है। अतः हम नाटक को जीवन से अलग नहीं कर सकते। नाटक 'जीवन की विस्तृत व्याख्या' है। नाटक की आवश्यकता मनोरंजन के लिए अनुभव हुई, आगे चलकर इसके साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि उद्देश्य भी सामने आते गए।

नाटक : व्युत्पत्ति और परिभाषा

'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत प्रकाश में आए हैं। कुछ लोग 'नाटक' शब्द का सम्बन्ध 'नट्' धातु से जोड़ते हैं, कुछ 'नाट्' धातु के साथ। किन्तु ऋग्वेद में 'नट्' धातु के प्रयोग के साथ 'नृत्' का उल्लेख भी मिलता है। यह सत्य है कि 'नट्' के खेलों के साथ 'नाटक' का प्रारम्भिक अर्थ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित था अवश्य। 'नट्' तथा 'नृत्' धातुओं का सम्बन्ध 'अनुकरण' तथा 'नृत्य' के साथ जोड़ा जाता है। 'नट्' के खेल में अनुकरण होता ही है तथा उसका उद्देश्य मनोरंजन भी है। इसी भाँति 'नृत्य' में कुछ विशेष भावों का मुद्राओं के द्वारा प्रदर्शन है, जिनमें अनुकरण की प्रवृत्ति विद्यमान होती है। नाटक में भी भावों और अनुकरण का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि 'नृत्य' की अपेक्षा 'नाटक' शब्द का

अर्थ अधिक व्यापक है, किन्तु सामान्यतः दोनों ही रूपों में भाव, अनुकरण और रस का योग मिलता है।

अंग्रेजी में 'नाटक' के लिए 'Drama' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका सम्बन्ध यूनानी के एक शब्द से जोड़ा गया है, जिसका अर्थ 'कृत' या 'किया हुआ' है। इसे हम 'कार्य' कह सकते हैं। इस रूप में पाश्चात्य नाटकों में 'कार्य की प्रधानता' देखी जा सकती है। भारतीय नाटकों में यही 'कार्य' 'अभिनय' के रूप में प्रस्तुत होता है।

उक्त तथ्यों के आधार पर नाटक शब्द की निम्नांकित परिभाषा दी जा सकती है—

"नाटक वह दृश्यकाव्य है, जिसमें प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का समुचित समन्वय होता है, जिसे अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तथा जिसका उद्देश्य जनमानस को आनन्द की प्रतीति कराना होता है।"

नाटक की विशेषताएँ :

साहित्य की अन्य सभी विधाओं से 'नाटक' अभिन्न होते हुए भी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ रखता है, जो उसे उन सबसे अलग ही रूप में प्रस्तुत करती हैं। प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

1. नाटक 'दृश्यकाव्य' की कोटि में आता है। काव्य के दो रूप माने गए हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। नाटक प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता तथा पढ़ा व सुना भी जा सकता है, किन्तु साहित्य के अन्य रूप दृश्य नही बन सकते। ये 'श्रव्य' कोटि में ही आते हैं, अर्थात् उन्हें पढ़-सुनकर कल्पना के द्वारा उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। नाटक में कल्पना पर अधिक बल नहीं देना पड़ता, क्योंकि उसमें जो कुछ भी होता है, वह प्रत्यक्षरूप से देखा जा सकता है। इस रूप में यह गुण नाटक को साहित्य की अन्य सभी विधाओं से अलग कर देता है।
2. नाटक में कथा प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत की जाती है। रंगमंच पर वैसा ही वातावरण और दृश्य-योजना की जाती है, जिससे दर्शकों को नाटक के मूल भावों को समझने में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता।
3. नाटक में कथोपकथनों एवं वातावरण की प्रधानता होती है। नाटक का विकास ही कथोपकथनों के द्वारा होता है। इनसे ही घटनाओं एवं परिस्थितियों की जानकारी मिलती है। इसी भाँति वातावरण की अनुकूलता पात्रों और घटनाओं को स्वाभाविक और प्रभावशाली बना देती है।
4. इसमें अतीतकाल में घटी घटनाओं को वर्तमान में घटी घटनाओं की ही भाँति प्रस्तुत किया जाता है।
5. साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा इस विधा से रस की प्राप्ति अधिक सुगमता से तथा अत्यधिक मात्रा में होती है, क्योंकि कुशल अभिनय तथा अनुकूल वातावरण से दर्शक मन्त्रमुग्ध होकर उन्हें ही वास्तविक मान बैठता है।

6. इसमें अनुकरण की प्रवृत्ति प्रधान होता है। अभिनेता व अभिनेत्रियाँ मूल चरित्रों के क्रियाकलापों का अनुकरण अभिनय के द्वारा करते हैं।
7. नाटक में पात्रों और दर्शकों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। कहानी, उपन्यास, काव्य आदि रूपों में पाठक और चरित्रों के मध्य लेखक अथवा कवि भी उपस्थित रहता है, जो समय-समय पर अपनी ओर से भी कुछ न कुछ कहता चलता है। किन्तु नाटककार अपने चरित्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत कर स्वयं हट जाता है। वहाँ जो भी कुछ कहते हैं, करते हैं—सभी पात्र ही।

नाटक के तत्त्व:

नाटक के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके तत्वों का समुचित ज्ञान भी आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के निम्नांकित 6 तत्व बतलाये हैं—

1. कथावस्तु	2. पात्र
3. कथोपकथन	4. देशकाल व वातावरण
5. भाषा और शैली	6. उद्देश्य

किन्तु, पाश्चात्य विद्वानों ने यही 6 तत्व कहानी और उपन्यास के सन्दर्भ में भी बतलाए हैं। ऐसी स्थिति में भ्रम हो सकता है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि नाटक, कहानी और उपन्यास में कोई तात्त्विक अन्तर है ही नहीं, जबकि वास्तव में आन्तरिक और बाहरी दोनों ही दृष्टि से इन विधाओं में बहुत अन्तर है। अतः भारतीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित नाटक के तत्व उचित प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार नाटक के 5 तत्व हैं—

1. कथावस्तु	2. पात्र
3. रस	4. अभिनय
5. वृत्तियाँ	

वास्तव में पाश्चात्य विचारकों के 6 तत्वों का समाहार इनमें हो जाता है। दूसरे 'अभिनय' जो कि नाटक की अपनी ही विशेषता होती है, वह उन तत्वों में नहीं आ पाई है।

1. कथावस्तु—कथावस्तु किसी भी रचना का प्राण अथवा मूल आधार होती है, जिस पर समूची रचना टिकी रहती है। अतः उसमें प्रवाह और प्रभावशीलता आवश्यक है। उसकी जीवन से निकटता भी होनी चाहिये, ताकि पाठक या दर्शक उसमें अपने जीवन की झलक पा सके। उसमें कौतूहल अथवा जिज्ञासा एवं संघर्ष भी होना चाहिये।

कथावस्तु के कई रूप होते हैं—

(अ) महत्व की दृष्टि से कथा दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु रचना की मुख्यकथा है, जो नायक-नायिका से सम्बन्धित होती है। किन्तु प्रासंगिक कथा मुख्यकथा के साथ किसी प्रसंगवश ही आती है; जैसे—राम-कथा में बाली व सुग्रीव की घटना। प्रासंगिक कथावस्तु भी दो प्रकार की होती है—

1. पताका 2. प्रकरी

पताका वह प्रासंगिक कथा है, जो मुख्यकथा के साथ अन्त तक चलती है, किन्तु प्रकरी प्रसंगवश उठकर बीच ही में समाप्त हो जाती है।

(आ) विषय की दृष्टि से कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—

1. प्रख्यात अथवा ऐतिहासिक,
2. उत्पाद्य अथवा काल्पनिक,
3 मिश्रित,

1. प्रख्यात अथवा ऐतिहासिक कथावस्तु, इतिहास अथवा पुराण से ली गई होती है, जिसके पात्र प्रतिष्ठित और सर्वप्रसिद्ध होते हैं।
2. उत्पाद्य कथावस्तु पूर्णतया कल्पना पर आश्रित होती है।
3. मिश्रित में ऐतिहासिक एव काल्पनिक कथाओं का सामंजस्य होता है।

कथा के विकास के आधार पर नाटक की कथावस्तु में 5 अवस्थाएँ मानी गई हैं—

1. प्रारम्भ —यह कथानक का प्रारम्भिक भाग है, जिससे नायक की इच्छा अथवा उसके मुख्य उद्देश्य का पता चलता है।
2. प्रयत्न —नाटक के उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों द्वारा किए गए प्रयत्न इसके अन्तर्गत आते हैं।
3. प्राप्त्याशा —इस भाग में नायक का उत्कर्ष होने लगता है, मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने लगती हैं तथा फल-प्राप्ति की आशा हो जाती है।
4. नियताप्ति —इसमें नायक को फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है।
5. फलागम —यहाँ आकर नायक को फल की पूर्ण प्राप्ति हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में पाँच रूपों का निर्देश किया है, जो अर्थ की दृष्टि से इनसे मिलते-जुलते हैं—

1. प्रारम्भ,
2. विकास,
3. चरम सीमा,
4. उतार,
5. अन्त या समाप्ति।

कथानक के एक अवस्था से दूसरी अवस्था के विकास का बोध कुछ प्रमुख घटनाओं से होता है, जिन्हें 'अर्थ-प्रकृति' कहा गया है, ये 5 होती हैं।

1. बीज,
2. बिन्दु,
3. पताका
4. प्रकरी,
5. कार्य।

इसी भाँति 5 संधियाँ भी मानी गई हैं—

1. मुख संधि,
2. प्रतिमुख संधि,
3. गर्भ सन्धि,
4. अवमर्श या विमर्श संधि,
5. निर्वहण या उपसंहार।

2. पात्र—नाटक की कथावस्तु का पात्र बड़ी कुशलता के साथ दर्शकों के सम्मुख करते हैं। इस रूप में चरित्रों अथवा पात्रों का महत्व भी कम नहीं होता। चरित्रों बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए। चरित्र इतने प्रभावशाली होने चाहिए

जो सर्व-साधारण के मन से सुगमता से न निकल सकें। उन्हें कोई न कोई आदर्श भी प्रस्तुत करना चाहिए।

सामान्यतः नाटक में 6 प्रकार के पात्रों का समावेश होता है—

1. नायक	2. नायिका
3. प्रतिनायक	4. पीठमर्द
5. विदूषक	6. दूतिका।

1. **नायक**—यह कथा का मुख्य पात्र होता है, जिसे फल की प्राप्ति होती है। सारी घटनाएँ इसी से सम्बन्धित होती हैं। सभी घटना व्यापारों का संचालक होने के कारण इसे 'नेता' भी कहते हैं। नायकों के 4 प्रकार होते हैं—
   - (अ) **धीरोदात्त**—यह नायक उच्चकुलीय, गम्भीर तेजस्वी और महान होता है, जैसे—राम।
   - (आ) **धीरोद्धत**—यह क्रोधी, कुटिल एवं प्रचण्ड स्वभाव का पात्र होता है, जैसे लक्ष्मण।
   - (इ) **धीरललित**—यह नायक रसिक प्रवृत्ति से मुक्त होता है, जैसे—कृष्ण।
   - (ई) **धीरप्रशान्त**—यह शान्त, संयमी, मिष्ठभाषी और मधुर व्यवहार का होता है। इसमें वीरोचित गुण नहीं होते, जैसे—महात्मा बुद्ध।
2. **नायिका**—यह प्रमुख नारी चरित्र है। नाटक से इसका प्रत्यक्ष और निकट सम्बन्ध होता है। यों तो नायिका के सैकड़ों भेद किए गए हैं, किन्तु प्रमुख भेद 3 ही हैं—1. *स्वकीया*, 2. *परकीया*, 3. *सामान्या*। इनके *अतिरिक्त भी* स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, अभिसारिका,. विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, प्रवत्स्यपतिका, प्रोषितपतिका, आगत्पतिका आदि कई रूप होते हैं।
3. **प्रतिनायक**—यह नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है तथा उसकी सफलताओं में बाधा डालने का प्रयास करता है। नायक का संघर्ष इसी के साथ रहता है।
4. **पीठमर्द**—यह नायक का सहयोगी अन्य प्रमुख चरित्र होता है।
5. **विदूषक**—नाटक में बीच-बीच में हास्य की सृष्टि के लिए विदूषकों का *आयोजन किया जाता है। कभी-कभी गम्भीर परिस्थितियों में यह नायक की* सहायता भी करता है।
6. **दूतिका**—यह प्रायः नायक और नायिका के मिलन में सहयोग करती है। इसका कार्य संदेश ले जाना, पत्रादि के आदान-प्रदान में सहायता करना है।

नाटक में पात्रों के चरित्र पर सामान्यतः तीन प्रकार से प्रकाश डाला जाता है—

1. कथोपकथनों द्वारा	2. क्रियाकलापों द्वारा
3. स्वगतकथनों से ।	

3. रस—साहित्य के सभी रूपों से सृजन का एक मात्र उद्देश्य रसप्राप्ति माना गया है। इस आनन्द की आलौकिक एवं अनिर्वचनीय स्थिति है, जिसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं। साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा नाटक में रस की अनुभूति सुगम और अधिक मात्रा में होती है। रस की प्राप्ति के लिए निम्नांकित तत्वों का सहयोग आवश्यक हैं—

1. विभाव, 2. अनुभाव, 3. संचारी भाव।

(1) विभाव—यह वे बाह्य दृश्य अथवा पदार्थ होते हैं, जो भावों की उत्तेजना में सहयोग करते हैं। इसके दो रूप हैं—

(अ) आलम्बन—वे सभी दृश्य अथवा पदार्थ, जिन्हें देखकर भावों में उत्तेजना जाग्रत होती है। जैसे सिंह को देखने से 'भय' उत्पन्न होता है। यहाँ 'सिंह' आलम्बन होगा।

(आ) उद्दीपन—यह आलम्बन से उत्तेजित भावों की वृद्धि में सहयोग करता है। आलम्बन आग लगाने वाला अंगारा है तो उद्दीपन तेज हवा का कार्य करता है, जो अग्नि को तेज कर देता है, जैसे प्रेमिका को देखकर प्रेमी के मन में 'रति'भाव जागते हैं। यदि चाँदनी रात हो, नदी का तट हो, सुन्दर हवा बहती हो तो रति भावों में और भी वृद्धि हो जायेगी । यहाँ चाँदनी रात, नदी-तट व हवा उद्दीपन हैं।

(2) अनुभाव—भावों में उत्तेजना आने पर व्यक्ति के मन में जो प्रतिक्रिया अथवा उथल-पुथल होती है, उससे उसके शरीर में कुछ न कुछ परिवर्तन आते हैं। यही उत्पन्न होने वाले लक्षण अनुभव हैं, जैसे प्रेम में अश्रु आ जाना, रोंगटे खड़े होना, क्रोध में नेत्र लाल हो जाना, नथुने फड़कने लगना आदि। अनुभाव कई प्रकार के हैं।

(3) संचारी भाव—यह आश्रय के मन में उत्पन्न स्थायी भावों के बीच मे प्रसंगवश उत्पन्न होने वाले भाव हैं, जो उस परिस्थिति के समाप्त होते ही लुप्त हो जाते हैं, जैसे—'प्रेम' नामक स्थायी भाव में प्रिय मिलन पर 'हर्ष' वियोग पर 'दुःख', उपेक्षा पर 'क्षोभ' और अहित की आशंका पर 'चिन्ता' उत्पन्न होती है। ये सभी संचारीभाव हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आलम्बन के द्वारा आश्रय के मन में उत्पन्न भाव उद्दीपन से उद्दीप्त होकर संचारियों से पुष्ट होते हुए अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होते हैं। यही 'रस-निष्पति' कहलाती है।

नाटक के प्रसंग में रस पर विचार करते समय 'साधारणीकरण' पर भी विचार आवश्यक हो जाता है। अभिनेताओं के कुशल अभिनय से दर्शक इतना अधिक मंत्रमुग्ध हो जाता है कि वह जानते हुए भी कि यह केवल कथा है और अभिनय करने वाले केवल अभिनेता हैं, मूल पात्र नहीं, फिर भी वह उन्हें मूल पात्र समझकर उन्हीं के साथ हँसता, रोता और सुख-दुख का अनुभव करता है। यही रस की वह अलौकिक स्थिति है।

4. **अभिनय**—कथा को स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत करने के लिए अभिनेता व अभिनेत्रियाँ 'अभिनय' का सहारा लेते हैं। यह चार प्रकार का होता है—
   (1) आंगिक—अंग-संचालन के द्वारा किया गया अभिनय इसके अन्तर्गत आता है। यह तीन प्रकार का होता है—शरीर के अन्य अंगों के संचालन से, मुख द्वारा प्रदर्शित हाव-भावों से तथा विभिन्न चेष्टाओं से।
   (2) वाचिक—पात्रों के पारस्परिक कथोपकथनों में आवश्यक उतार-चढ़ाव, तेजी व शांति के द्वारा यह अभिनय सम्पन्न होता है।
   (3) आहार्य—इसमें पात्रों की वेशभूषा, आकृति एवं आभूषणों की व्यवस्था सम्मिलित होती है।
   (4) सात्विक—यह सभी अभिनयों में कठिन होता है। इसके अन्तर्गत अश्रु, पसीना, कम्प आदि के भावों का प्रदर्शन किया जाता है। इनके लिए आजकल कुछ कृत्रिम पदार्थों का उपयोग किया जाने लगा है।
5. **वृत्तियाँ**—इससे तात्पर्य 'ढंग' से होता है। ये चार प्रकार की हैं—
   (1) कैशिकी—इस वृत्ति के अन्तर्गत श्रृङ्गार, हास्य, गीतों एवं नृत्यों की बहुलता होती है।
   (2) सात्वती—इस वृत्ति में शौर्य, दया, दान आदि वीरोचित कार्यों का निरूपण मिलता है।
   (3) आरभटी—इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, घात प्रतिघात आदि का चित्रण किया जाता है।
   (4) भारती—इस वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित होती हैं।

इस प्रकार नाटक का गठन होता है। आज नाटक पर्याप्त लोकप्रिय हो गया है। सिनेमा और टेलीविजन के रूप में इसका विकसित स्वरूप बहुत प्रचलित है। इस रूप में कहा जा सकता है कि नाटक आज हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता जा रहा है।

नाटक और एकांकी :

एकांकी नाटक का ही एक रूप-विशेष है। कलेवर की दृष्टि से तो यह नाटक से छोटा होता है, साथ ही कुछ और भी अन्तर इनमें हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. नाटक का कलेवर तीन अंकों में फैला होने के कारण अधिक विस्तृत होता है, किन्तु एकांकी-सीमा एक ही अंक में सीमित रहती है।
2. नाटक जीवन के सर्वांगपूर्ण स्वरूप का चित्रण होता है, जबकि एकांकी में नाटककार की दृष्टि जीवन के एक पक्ष पर ही केन्द्रित रहती है।

3. नाटक का वस्तु-विन्यास एकांकी की उपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। इसमें मुख्यकथा के साथ-साथ अन्तर्कथाओं का समावेश भी रहता है।किन्तु एकांकी में कथानक कटा-छँटा, नपा-तुला होता है।
4. नाटक में पात्रों की संख्या अधिक होती है, जबकि एकांकी में बहुत सीमित।
5. नाटक में कथा की गति मन्द होती है। वह नदी की भाँति इधर-उधर तटों से टकराती हुई आगे बढ़ती है, किन्तु एकांकी की कथा वायुयान की भाँति इधर-उधर भटके बिना अपने निर्दिष्ट स्थान अर्थात् फल की ओर तेजी से बढ़ती है।
6. नाटक-रचना के पीछे कई उद्देश्य हो सकते हैं, जबकि एकांकी में एक ही उद्देश्य सम्भव हो सकता है।

□□□

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

प्राचीनकाल में नाटक :

यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि जब किसी बालक ने खेल ही खेल में अपने में किसी दूसरे बालक की कल्पना की, उसी दिन नाट्यकला की उत्पत्ति हो गई थी। तब से आज तक यह कला निरन्तर विकसित हो रही है। नाटक की सर्वप्रथम उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रो. मेक्समूलर का अनुमान है कि संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ से यह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिककाल में नृत्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था और पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी आदि के संवाद, अभिनय के रूप में नाटक के प्रारम्भिक रूप के भी दर्शन हो जाते हैं। यज्ञों के अवसर पर इन्द्र-मरुत के पक्ष का मण्डन करने वाले दोनों पक्ष परस्पर जो संवाद करते थे, वही कथोपकथन नाटक के विकास का मूलसूत्र था, किन्तु व्यवस्थित नाटक-लेखन और प्रदर्शन के प्रमाण वैदिक साहित्य में नहीं मिलते हैं।

रामायणकाल में वाल्मीकि ने राम के राज्याभिषेक के अवसर पर नटों, नर्तकों और नायकों के उत्तम प्रदर्शन का वर्णन किया है। महाभारत काल में तो 'रामायण' नाटक और 'कौबेर-रम्माभिसार' नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नाटक-मण्डलियों द्वारा नाटक-प्रदर्शन का तथा राजकर चुकाने का और नटों की शिक्षा-व्यवस्था का विवरण प्राप्त होता है।

बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विनय-पिटक' में रंगशाला और प्रदर्शित अभिनय, नृत्य आदि का उल्लेख है। पतंजलि के महाभाष्य में 'कंस-वध' और 'बालि-वध' नामक दो नाटकों का उल्लेख है। इससे डॉ. कीथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि संस्कृत नाटक ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से प्राचीन नहीं तो उससे अधिक अर्वाचीन भी नहीं और इनकी प्रेरणा महाकाव्यों के गायक तथा कृष्णजीवन की उन नाटकीय घटनाओं से प्राप्त हुई, जिनमें बालक कृष्ण अपने शत्रुओं से संघर्ष करके विजय प्राप्त करता है।

संस्कृत का समृद्ध नाटक-साहित्य :

संसार के प्राचीनतम नाटक-साहित्य में संस्कृत के नाटकों की समृद्धि सर्वोपरि है। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', भास के "पंच नाटक", भट्ट नारायण का "वेणीसंहार" आदि नाटकों ने सदियों तक भारतीय नाटक साहित्य को प्रभावित किया है। प्राकृत और अपभ्रंश ने भी संस्कृत की परम्परा का उत्थान किया। हिन्दी ने भी संस्कृत नाटकों से ही प्रेरणा ग्रहण की है।

हिन्दी नाटकों का जन्म और विकास :

हिन्दी नाटकों का वास्तविक उद्‌भव तो भारतेन्दु के उदय के साथ ही माना जाना चाहिए। संस्कृति से आती हुई नाटक-धारा प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई लोक-जीवन में घुल-मिल गई थी। अतः साहित्य के क्षेत्र में कहीं-कहीं नाटकों का क्रम विच्छिन्न-सा दिखाई देता है। मध्यकाल में मुस्लिम शासकों की धर्म-दृष्टि के कारण हिन्दी में नाटक-साहित्य को प्रोत्साहन नही मिला, किन्तु लोक-नाटकों में कृष्ण-रास और जैन-रास ने हजारों वर्षों से चले आये मनोरंजन के इस साधन को जीवित बनाये रखा।

रीतिकाल में बनारसीदास का "समय-सार" (सं. 1593), प्राणचन्द्र चौहान का "रामायण महानाटक" (सं. 1667), रघुराय नागर का "सभासार" (सं. 1757), लच्छीराम का "करुणाभरण" (सं. 1772) आदि नाटक कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त हीन हैं। ये छन्दोबद्ध संवादात्मक रचनाएँ हैं। इस समय दरबारी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये काव्य में नायिका-भेद का ऐसा रूप प्रस्तुत किया कि नाटकों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जा सका। हाँ, इस काल में भी रास-लीला के माध्यम से जनता अपने इष्टदेव के चरित्र को हृदय से लगाये रही।

भारतेन्दु से पूर्व का नाटक-साहित्य .

रीतिकाल के अन्त में अनेक कवियों ने नाटक के विकास में भाग लिया था। इनमें हृदयराम का "हनुमन्नाटक" (सं. 1680), महाराजा यशवन्तसिंहकृत "प्रबोध चन्द्रोदय" (सं. 1700), सामराज दीक्षित कृत "श्रीदामाचरित" (सं. 1738), रीवा नरेश महाराजा विश्वनाथसिह कृत "आनन्द रघुनन्दन"(सं. 1900) आदि रीतिकालीन नाटकों में अन्तिम नाटक में शास्त्रीय रीति से गद्य का प्रयोग हुआ। "आनन्द रघुनन्दन" नाटक में अंक, दृश्य, नट, नटी आदि से नाटक को ऐसा मोड़ दिया गया है कि वर्षों तक हिन्दी में नाटक-तकनीक इसी नाटक के आधार पर विकसित होती रही। भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने भी "नहुष" नाटक की रचना सं. 1914 वि. में की। भारतेन्दु ने "नहुष" को ही "हिन्दी का पहला नाटक" माना है। किन्तु यह भी ब्रजभाषा के पद्यबद्ध नाटकों की ही परम्परा का नाटक है। अनूदित नाटकों में राजा लक्ष्मणसिंह का "शकुन्तला" नाटक कालिदास के मूल "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" का सुन्दर अनुवाद है। इसमें मूलकृति का सौन्दर्य दिखाई देता है। इसका गद्य खड़ीबोली का और पद्य ब्रजभाषा का है। अतः इसे खड़ीबोली का पहला नाटक कहा जा सकता है।

भारतेन्दु से पूर्व पारसी थियेटरों की बड़ी धाक थी। पारसी थियेटर कम्पनियाँ देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करके नाटकों का प्रदर्शन करती थीं। इन कम्पनियों ने जनता की भोंडी रुचि को ही तृप्त किया था, किन्तु इनका सबसे बड़ा योगदान यह था कि इन्होंने हिन्दी को रंगमंच और तदनुकूल अभिनय की क्षमता प्रदान की।

वस्तुतः हिन्दी में व्यवस्थित और साहित्यिक नाटक-लेखन कार्य तो आधुनिककाल में ही प्रारम्भ हुआ, जबकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटकों के माध्यम से हिन्दी-साहित्य की सम्पन्नता में अपना महत्वपूर्ण योग दिया। अतः भारतेन्दु से लेकर अद्यतन नाटक-साहित्य के विकास का अध्ययन इस काल को चार भागों में बाँटकर किया जा सकता है—

(i) भारतेन्दु-युग
(ii) प्रसाद-युग
(iii) प्रसादोत्तर-युग
(iv) नवयुग

(i) भारतेन्दु-युग :

हिन्दी नाटकों को उत्कर्ष तक पहुँचाने में भारतेन्दु युग के लेखकों का बड़ा हाथ है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनेक नाटकों की रचना करके इस दिशा में नेतृत्व प्रदान किया। "हिन्दी-नाटक के जन्मदाता" का श्रेय भारतेन्दु को ही दिया जा सकता है। भारतेन्दु युगदष्टा और युगस्रष्टा थे। उन्होंने दो प्रकार के नाटक लिखे थे—मौलिक और अनूदित। भारतेन्दु ने बंगला में विद्यासुन्दर का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। सं. 1929 वि. में उन्होंने "पाखंड-बिखंडन", सं. 1930 में "धनंजय-विजय" "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", सं. 1932 वि. में "सत्य हरिश्चन्द्र", "कर्पूर मंजरी", सं. 1935 में "मुद्राराक्षस", सं. 1937 में "भारत-दुर्दशा," सं. 1938 में "अंधेर नगरी", "नील देवी" आदि नाटक लिखकर हिन्दी में नाटक-लेखन के द्वार खोल दिये।

भारतेन्दु-मंडल के अन्य साहित्यकारों ने भी नाटकों की रचना की। इनमें प्रतापनारायण मिश्र के "गौ-संकट, "हम्मीरहठ" तथा राधाकृष्णदास के "महारानी पद्मावती", "महाराणा प्रताप", "दुखिया बाला" आदि नाटक महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त श्रीनिवासदास, प्रेमधन, बाबू केशवदास, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने भी नाटक साहित्य की अभिवृद्धि में उल्लेखनीय योग दिया। इन नाटकों ने नाटककला के विकास में अधिक योग नहीं दिया, क्योंकि इनके नाटकों में संस्कृत की स्वगत-भाषण तथा काव्यात्मकता ज्यों की त्यों बनी है।

भारतेन्दु के पश्चात् सुधारवादी द्विवेदीयुग में भाषा की शुद्धता का आन्दोलन छिड़ गया और आतंकित साहित्यकारों ने नाटक-साहित्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

(ii) प्रसाद युग :

नाटक के क्षेत्र में क्रान्ति प्रसाद ने ही प्रारम्भ की। प्रसाद ने हिन्दी नाटकों का कायाकल्प कर दिया। प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग से विषयवस्तु का चयन किया। उन्होंने प्राचीन भारत के गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा के प्रभावशाली, मनोरम और प्रेरणादायक चित्र अपने नाटकों में प्रस्तुत किए। "सज्जन", "कल्याणी-परिणय" और "प्रायश्चित" (सं. 1968 से 71) उनके प्रारम्भिक नाटक हैं। इसके पश्चात् उनकी लेखनी से प्रौढ़तर नाटक प्रस्तुत होते गये। "राजश्री", "विशाख", (सं. 1978), "अजातशत्रु" (सं. 1979), "जनमेजय का नागयज्ञ" (सं. 1983), "कामना", "स्कन्दगुप्त" (सं. 1985), "चन्द्रगुप्त", (सं. 1988), "ध्रुवस्वामिनी" (सं. 1990) आदि उनके अत्यधिक महत्वपूर्ण नाटक हैं। इसमें से कई नाटकों का रंगमंचीय सफल अभिनय भी हो चुका है। प्रसादजी ने पाश्चात्य और भारतीय नाट्यशैलियों का मिश्रण किया है। प्रसादजी ने नाटकों में देश-प्रेम, राष्ट्रीयता और संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की है। उनके नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता है। इस प्रकार प्रसाद की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उसका राष्ट्रीयता के प्रति उत्कट आग्रह, उनका दार्शनिक चिन्तन संघर्षों में जीवन की खोज, शैली-शिल्प

में क्रांतिकारी परिवर्तन आदि महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार प्रमाणित कर देती हैं।

(iii) प्रसादोत्तर युग :

प्रसाद के पश्चात् नाटकों का विकास रुका-सा दिखाई देता है। प्रसाद की शैली और विषय-वस्तु वाले अनेक नाटक लिखे गये, किन्तु कोई भी नाटककार प्रसाद की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सका। प्रसाद के पश्चात् ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर नाटक लिखने वालों में हरिकृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट प्रसिद्ध हैं। प्रेमजी ने मुगलकालीन राजपूत गौरव, हिन्दू-मुस्लिम" एकता का चित्रण करने वाले "रक्षा- बन्धन", "स्वप्न-भंग," "आहुति", "विषपान" आदि नाटक लिखे और भट्टजी ने "सगर विजय","मत्स्यगंधा", "विश्वामित्र" नाटकों में पौराणिक चरित्रों का अंकन किया।

प्रसादोत्तरकाल में ही बैचेन शर्मा "उग्र", माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्द वल्लभ पंत, जगन्नाथ प्रसाद "मिलिन्द" आदि नाटककारों ने हिन्दी नाटक साहित्य को अपना अमूल्य सहयोग दिया।

इस काल के नाटककारों—लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास ने अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं से हिन्दी नाटक को विशेषतः प्रभावित किया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी में यूरोपीय ढग से समस्या-प्रधान नाटकों के जन्मदाता हैं। उन्होंने "सिन्दूर की होली", "संन्यासी", "राक्षस का मन्दिर", "मुक्ति का रहस्य" आदि प्रसिद्ध नाटकों की रचना की। सेठ गोविन्ददास ने लगभग एक सौ से ऊपर नाटक लिखे हैं। इनके नाटकों में मिश्रजी के नाटकों की अपेक्षा अभिनेयता अधिक है। सेठजी के नाटकों में "हर्ष" बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रसाद की नाट्य-परम्परा को विकसित करने वालों में औंकारनाथ "दिनकर" का नाम लिया जा सकता है। दिनकर ने प्रसाद की शैली में "मुंज", "भोज","पवनंजय" आदि नाटकों की रचना की है।

(iv) नवयुग :

आजादी के बाद हिन्दी का नाटक-साहित्य अपने मौलिक पदों पर आगे बढ रहा है। कई नये नाटककार सामने आये हैं, जिन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रयोगों से हिन्दी नाटक को विविधता प्रदान की है। गीतिनाटकों की रचनाओं में सुमित्रानन्दन पंत की "ज्योत्स्ना", रामधारीसिंह 'दिनकर' की "उर्वशी" मुख्य है। प्रसाद की शैली का युग पूर्णतः समाप्त हो चुका है। कई नवयुवक नाटककारों ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। हिन्दी नाटक को नया दृष्टिकोण देने वालों में जगदीशचन्द्र माथुर का नाम मुख्य है। उनके "कोणार्क" और "पहला राजा"(1969) युगान्तरकारी परिवर्तन लेकर उपस्थित हुए। राम कुमार वर्मा का "जौहर की ज्योति", डॉ. सरनामसिंह का "इन्सान की राह"(1969), उपेन्द्रनाथ अश्क का "भँवर" मोहन राकेश के "आषाढ़ का एक दिन", "लहरों के राजहंस", "आधे-अधूरे" आदि प्रमुख हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल नाटकों के विकास के लिए विभिन्न प्रयोग कर रहे हैं। उनके प्रतीकात्मक नाट "सूखा सरोवर", "मादा कैक्टस", "मि. अभिमन्यु" आदि ने बहुत प्रसिद्धि पाई है।

नाटक और रंगमंच

रंगमंच का सम्बन्ध नाटक से है। रंगमंच वह प्रयोगशाला है जहाँ नाटकों का निरीक्षण-परीक्षण किया जाता है। यहीं नाटकों का अभिनय किया जाता है, जिससे नाटक सामाजिक तक जा पाते हैं। अभिनय का अर्थ ही है सम्मुख ले जाना। जिन प्रक्रियाओं के द्वारा नाटक के आशय का प्रेषण अथवा प्रत्यक्षीकरण सामाजिकों के सम्मुख होता है, उसे अभिनय तथा उसके अभिनय करने वाले को अभिनेता कहा जाता है। अभिनय कला और अभिनेता का कार्य रंगमंच से ही सम्बद्ध है। तात्पर्य यह है कि किसी नाटककार की रचना को यदि अभिनेता सामाजिकों के समक्ष नहीं रख पाता है तो उसमें नाटककार का दोष नहीं, अपितु अभिनेता का ही दोष कहा जायेगा। सफल अभिनेता वही होगा जो प्रत्येक नाटक को अभिनेय बना सके।

आज जब भी हिन्दी रंगमंच की चर्चा होती है तो ऐसा कहा जाता है कि हिन्दी में अभिनेय नाटकों की कमी है। समीक्षक मागधजी ने लिखा है कि "बेचारे प्रसादजी को अधकचरे और टुटपुंजिए लोग भी भला-बुरा कह चलते हैं। इसी प्रकार हिन्दी नाटकों की चर्चा में भी हिन्दी रंगमंच की चर्चा किसी न किसी रूप में आती ही है। तब हम कहते हैं कि अभिनेय नाटक ही नहीं है तो फिर रंगमंच की आवश्यकता ही क्या है। कुछ तो ऐसे भी निराशावादी जुटे हैं, जो यहाँ तक कहते हैं कि विज्ञान के युग में सिनेमा से जब मनोरजन आदि के काम हो ही जाते हैं तो रंगमंच की आवश्यकता क्या हे किन्तु ऐसे लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि अधुनातन होटलों के रहते हुए भी घर की रसोई ही क्यों पसन्द की जाती है। खैर, आज यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है कि रंगमंच का निर्माण नाटको के अनुरूप होना चाहिए अथवा नाटकों को ही रंगमंच के अनुरूप बनाया जाय। इस प्रश्न का उत्तर दो रूपो में सामने आता है। एक वर्ग यह मानता रहा है कि रंगमंच को नाटक के अनुरूप होना चाहिए। प्रसादजी इसी मत के पक्षपाती थे। वे सदा कहा करते थे के रंगमच को नाटक के पीछे चलना चाहिए। अर्थात, नाटककार जैसी रचना दे, उसी के अनुरूप अभिनेता रंगमच तैयार करें। ऊपर अभिनेता शब्द की व्याख्या भी लगभग यही कहती है। अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रसाद का कथन कोरे आदर्शवाद पर नही, अपितु भारतीय मान्यता पर ही आधृत था।" जिस समय प्रसादजी अपने नाटकों की रचना कर रहे थे, उनके नाटकों की अभिनेयता की चर्चा प्रारम्भ ही नहीं हुई थी, अपितु काफी जोर पकड़ चुकी थी। प्रसादजी के समय हिन्दी का रंगमंच पारसी थियेटरों के रूप में ही था। उन थियेटरों में प्रसाद के नाटकों के अभिनय की कल्पना करना आकाश से तारे तोड़ लाने की कल्पना ही थी। इसी से प्रसाद ने विरोधियों का उत्तर देते हुए "विशाख, नाटक की भूमिका में लिखा था - "आजकल के पारसी रंगमंचों के अनुकूल ये नाटक कहाँ तक उपयुक्त होंगे, इसे मै नहीं कह सकता। उनका आदर्श केवल मनोरंजन है। हाँ, जातीय आदर्शों से स्थापित यदि कोई रंगमंच, जहाँ कि चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय पर और आदर्श के विकास पर रखा जाता हो कोई सम्मति अपने अभिनय में अड़चन पड़ने की दे तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत हूँ।" इस उद्धरण से चार बातें स्पष्ट होती हैं—

(क) प्रसादजी के नाटक मात्र मनोरंजन के ही साधन नहीं, सत्य और आदर्श के संवाहक भी हैं।

(ख) इनके तथा इनके नाटकों के समान अन्य नाटकों का अभिनय जातीय आदर्शों से स्थापित रंगमंच पर ही किया जाय, अन्यत्र ये अभिनेय हैं।

(ग) प्रसाद के समय में हिन्दी रंगमंच का आदर्श पारसी रंगमंच ही था, जसका उद्देश्य था मनोरंजन।

(घ) रंगमंच पर चमक दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय और आदर्श पर दिया जाय।

रंगमंच वास्तव में केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, वह सत्य, जीवन मूल्यों और आदर्श का प्रतिष्ठापक भी है। इतना ही नहीं, रंगमंच जाति, देश और समाज की संस्कृति की प्राणवत्ता का द्योतक भी है। अत: रंगमंच की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रंगमंच का पूरा ब्यौरा दिया है। रंगमंच और रंगशाला के विषय में जितना विस्तृत वर्णन वहाँ उपलब्ध है, उतना वर्णन ससार के किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता है। उसमें न केवल नाट्यकला, वेशभूषा, अंग रचना, अभिनय आदि का ही वर्णन है, अपितु इसका भी विशद् वर्णन है कि रंगमंच कैसे होना चाहिए और रंगशाला कहाँ बननी चाहिए। वास्तव में नाटक सांस्कृतिक उत्थान का मापक यंत्र है। किसी देश के नाटक की उन्नति या अवनति के आधार पर वहाँ का सांस्कृतिक इतिहास खोजा जा सकता है। मध्यकाल में रंगमंच का प्राय: अभाव रहा है। उसके कई कारण हैं, पर आधुनिक हिन्दी रंगमंच अब नये रूप में हमारे सामने है। आधुनिक हिन्दी रंगमंच के प्राय: दो ही मूल रूप उपलब्ध होते हैं - पहला लोक रगमंच और दूसरा साहित्यिक रंगमंच। सस्कृत नाटकों और सस्कृत के साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन-मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी रंगमंच का एक ही रूप नहीं था। भरत ने अभिनेय नाटकों के लिए जो कहा है, वह यथार्थ है-

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्योज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्

किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने अभिनेय नाटकों की परिभाषा ही बदल दी है—

पंचसन्धिश्चतुर्वृत्तिः चतुःषष्ठ्यंगसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोमेतमलंकारोपशोभितम्॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम्॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिदानं च कविः कुर्यातु नाटकम्॥

दोनों ने अभिनेयता को आवश्यक माना है, पर अभिनेयता के स्वरूप में दोनों की मान्यता में छत्तीस का ही सम्बन्ध जँचता है। इसके आधार पर यह कल्पना गलत न होगी कि आचार्य भरत लोकशिक्षार्थ पंचम वेद के रूप में लिखित नाटकों की अभिनेयता की ान कर रहे हैं, जो सम्भवतः लोक-रंगमंच पर ही अभिनीत होते होंगे, किन्तु आचार्य

विश्वनाथ साहित्यिक नाटकों की अभिनेयता की चर्चा कर रहे हैं, जिनका अभिनय साहित्यिक रंगमंच पर ही संभव होता होगा। कहना न होगा कि प्रथम के आदर्श रूप भास के नाटकों में मिलेंगे और द्वितीय के आदर्श रूप कालिदास के नाटकों में। स्वयं कालिदास ने भी "अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्" की बात कहकर इसी की पुष्टि की है। "विक्रमोर्वशीयम्" में भी कालिदास विद्वत्परिषद की ओर संकेत करते हैं — "मारिष बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टः प्रयोगबन्धः सोहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये।" अस्तु, ऐसा कहा जायेगा कि विद्वत्परिषद में अभिनीत होने वाले नाटक सामान्य नाटकों से भिन्न होते थे। ऐसी रंगशाला में प्रायः राजा और राजन्यवर्ग के लोग तथा विद्वान ही दर्शक होते थे। यहाँ नाटक पंचम वेद के रूप में ही नहीं, साहित्य के रूप में भी प्रतिष्ठित था।

साहित्यिक रंगमंच के प्रायः चार भाग होते है—नेपथ्य, पार्श्व, दृश्य सामग्री और मंच को दर्शक से अलग करने वाला भाग। लोक रंगमंच के विविध रूप हिन्दीभाषी क्षेत्रों में मिलते हैं, जिनमें मूलतः निम्नांकित रूप अधिक प्रचलित हैं - (1) लीला-नाटकों के रंगमंच, (2) यात्रा-पार्टी और स्वाँग नाटकों के रंगमंच, (3) कठपुतलियों के रंगमंच। हिन्दी में जो साहित्यिक रंगमंच मिलते हैं, वे भी दो प्रकार के हैं - एक तो वे जो व्यवसायी हैं और दूसरे वे जो अव्यवसायी रंगमंच के नाम से जाने जाते हैं। हिन्दी में साहित्यिक दृष्टि से रंगमंच का आरम्भ भारतेन्दु द्वारा ही होता है। जिस समय भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना की, उस समय हिन्दी क्षेत्र रंगमंच से पूर्णतः शून्य नहीं था। भारतेन्दु काल में पारसी रंगमंच का भी काफी प्रभाव था। भारतेन्दु को विरासत में बंगला का विकसित रंगमंच मिला था जिससे उन्होंने पर्याप्त लाभ उठाया। बलिया, कानपुर और मेरठ इत्यादि नगरों में हिन्दी रंगमंच की स्थापना हुई और लोग नये उत्साह से नाटक के अभिनय में भाग लेने लगे। प्रयाग में जो कांग्रेस अधिवेशन हुआ उसमें बदरीनारायण चौधरी ने "भारत सौभाग्य" नाटक का अभिनय किया था। इसी अवसर पर राधाकृष्ण जी का नाटक "प्रताप" भी अभिनीत हुआ था। बलिया वाले अभिनय में स्वयं भारतेन्दु जी प्रमुख भूमिका में उतरे थे। द्विवेदी युग में रंगमंच की स्थिति और भी सुधरनी चाहिए थी किन्तु ऐसा हुआ नहीं। नाटक के क्षेत्र में एक प्रकार की निष्क्रियता व्याप्त होती चली गयी।

प्रसाद युग में हमारी रुचि परिष्कृत हुई किन्तु परिष्कृत रुचि के कारण पारसी नाटक ंद तो पड़ने ही लगे, सिनेमा के प्रचार से भी उन्हें आघात पहुँचा। प्रसादजी ने स्वयं लेखा कि "रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे गयें।" ध्यान से देखें तो प्रसादजी के इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि वे रंगमंच वरोधी थे, किन्तु यही है कि वे केवल इतना ही चाहते थे कि रंगमंच को स्वयं नाटकों ; अनुकूल परिवर्तित होना चाहिए न कि रंगमंच के अनुकूल नाटकों की रचना की जानी गहिए। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने भी ऐसे ही नाटक लिखे जो प्रसाद की मान्यताओं मेल खाते थे। निश्चित रूप से प्रसाद युग में ऐसे नाटककार अवश्य हुए जो रंगमंच ो तत्कालीन स्थिति पर ध्यान देते हुए अपने नाटकों को रंगमंचीय बनाने का प्रयत्न कर ; थे। उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि ने अपने टकों को अधिकाधिक रंगमंचीय बनाने की कोशिश की। अधुनातन हिन्दी रंगमंच पर

माथुर ने अपने कोणार्क नाटक की भूमिका में रंगमंच के त्रिकोणात्मक विकास का आग्रह किया है—

(1) माथुर साहब का कहना है कि रंगमंच यथार्थवादी होना चाहिए।

(2) प्राचीन नाट्यकला से प्रेरित किन्तु आधुनिक साधनों से सम्पन्न नागरिक रंगमच अपेक्षित है।

(3) परिमार्जित और संशोधित देहाती रंगमंच की भी आवश्यकता है।

आज रंगमंच के विकास में सबसे बड़ी बाधा सिनेमा है। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत का कथन है कि रंगमंच के समुचित विकास के लिए विद्यालयों में अभिनय कला का पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारण होना चाहिए। वे सरकार की ओर से चालित रंगमच को तीन रूपो में विकसित करने के पक्ष में हैं- लोकनाट्य रंगमंचों के रूप में। हिन्दी साहित्यकारों ने भी रंगमच के विकास में अपनी भूमिका निभायी है। वास्तविकता यह है कि हिन्दी रंगमंच के विकास में काशी और बम्बई जैसे नगरों का विशेष योगदान है। आज हिन्दी रंगमंच व्यावसायिक दृष्टि से विकसित हो रहा है। जो भी हो, यह सत्य है कि हिन्दी रंगमंच और नाटक का गहरा सम्बन्ध है। रंगमंचीयता के गुणों से रहित नाटक आज अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते हैं। कारण यह है कि नाटक दृश्यकाव्य है और दृश्यकाव्य में जो कुछ अभिनय के माध्यम से रंगमंच पर दिखाया जाता है, वह पाठक की चेतना को सीधा प्रभावित करता है। यह उक्ति कम महत्वपूर्ण नहीं है और न उपेक्षित ही की जानी चाहिए कि "काव्येषु नाटकम् रम्यम्।" नाट्य शास्त्र के आचार्य भरत ने ब्रह्मा के मुख से कहलाया है कि नाटक पीड़ा, क्लेष और थके हुए व्यक्तियों के आनन्द का साधन है। यद्यपि गीतिकाव्य में भी भावों की सघनता होती है किन्तु वे वैयक्तिक अधिक होते हैं। नाटक के भावों में व्यापक मानवता समाहित रहती है। इसलिए नाटक को सम्पूर्ण साहित्यिक विधाओं में विशेष महत्व दिया गया है।

समसामयिक नाटक और रंगमंच

समसामयिक शब्द से तात्पर्य समकालीन से है। ऐसी स्थिति में जब हम हिन्दी नाटकों की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय साठोत्तरी हिन्दी नाटक से होता है यह ठीक है कि जयशंकरप्रसाद से हिन्दी नाटक को एक गति प्राप्त हुई और उन्होंने अपने अनेक नाटकों के माध्यम से दर्शकों और पाठकों की रुचि को परिष्कृत किया। जो हो, इतना निश्चित है कि प्रसादजी ने साहित्यिक नाटक लिखे हैं। उसके अनुसार साहित्यिक होने के साथ साथ रंगमंचीय भी थे, किन्तु समीक्षकों ने उनके नाटकों पर आरोप लगाया है कि अभिनेय नहीं हैं। प्रसाद ने ऐसे लोगों को यह उत्तर दिया कि उन लोगों के लिए नाटक नही लिखे हैं जो दो चार पर्दे मंगनी मांग लेते हैं और दो आने के टिकट बेचकर दर्शकों का सस्ता मनोरंजन करते रहते हैं। निश्चय ही प्रसाद यह कथन इस बात की सूचना देता है कि उन्होने हिन्दी नाटक को और रंगमंचीय को बढ़ाने के लिए अपने नाटक लिखे थे। प्रसादोत्तर काल में यह प्रवृत्ति कुछ और बढ़ी और नाटक कुछ सरल हुए किन्तु साथ साथ वैचारिक और रंगमंचीय आवश्यकता के अनुरूप लिखे जाने लगे। जिन नाटककारों ने यही कार्य किया उनमें हरिकृष्ण

विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र और डॉ. रामकुमार वर्मा के नाम प्रसिद्ध हैं। इन सभी ने नाटक को रंगमंच से घनिष्ठता से जोड़ा। इनके बाद सन् 1970 के बाद नये नये नाटककार सामने आए और उनका नाट्यसृजन समसामयिक हिन्दी नाटक की उपलब्धि कहा जा सकता है।

हिन्दी समसामयिक नाटकों का विकास रंगमंचीय दृष्टि से हो रहा है। इससे पूर्व के नाटककारों ने इस दिशा में रुचि तो प्रदर्शित की थी, कितनी, उतनी जितनी उनसे अपेक्षित थी। प्रश्न यह है कि समसामयिक नाटकाकारों में हम किन-किन नाटककारों को स्थान दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध समसामयिक नाटककारों में भुवनेश्वर, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहल राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, सत्यव्रत सिन्हा, जगदीशचन्द्र माथुर और भीष्म साहनी जैसे अनेक नाटककारों का नाम लिया जा सकता है। इन नाटककारों ने जहाँ एक ओर नाटकों में समसामयिक जीवन और परिवेश को प्रस्तुत किया है, वहीं नाटक में रंगमंचीय क्षमताओं का विकास भी किया है। प्रायः यह देखने मे आता है कि आज सभी नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक लिख रहे हैं। रंगमंच से तात्पर्य मात्र अभिनय से नहीं है, अपितु आजकल रंगमंच का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। यह केवल अभिनेयता से सम्बन्धित न होकर उन सभी बातों से भी सम्बन्धित है जिसमें स्थान जैसे नाट्यगृह, और उसका स्थापत्य, प्रेक्षागृह में बैठने की व्यवस्था, नेपथ्यगृह और उसकी आवश्यक वस्तुएँ, रंगमंच और उसकी सजावट, पात्रों की वेशभूषा, रंग विधान, दृश्य विधान, पात्रों का प्रवेश, संगीत योजना, वातावरण चित्रण और घटनाओं के उत्थान-पतन आदि के अंकन को रंगमंच में शामिल किया जाता है।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने रंगमंच के स्वरूप और अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "रगमंच का अर्थ केवल स्टेज या अभिनय स्थान ही नहीं है। रंगमंच एक सामाजिक कलात्मक संस्था है जो नाटक और अभिनय के प्रत्येक क्षेत्र में सम्पूर्ण ज्ञान वितरित कर सके। राज्य की ओर से या समाज के द्वारा प्रचुर धन दान देने से वह सम्पूर्ण हो और विश्वविद्यालय की भाँति विद्यार्थियों को रंगमंच के ज्ञान में पूर्णतः दीक्षित कर सके।" इस प्रकार स्पष्ट है कि रंगमंच शब्द अपने संकुचित अर्थ में तो अभिनय का ही वाचक है, किन्तु व्यापक अर्थ में उसका प्रयोग नाटक तथा अभिनेयता से सम्बन्धित समस्त स्थानों, वस्तुओं, व्यक्तियों और कलाविधियों आदि से भी किया जाता है।

समसामयिक नाटकों में रंगमंच का विशेष ध्यान रखा जाता है। किसी नाटककार को ले लीजिए, उसका नाटक रंगमंचीय अत्यन्त आवश्यक अनिवार्यताओं को अवश्य पूरा करता है। लक्ष्मीनारायण लाल के सभी नाटक, यदि कुछ विशेष नाटकों के नाम लें तो मि. अभिमन्यु, मादा कैक्टस, अब्दुल्ला दीवाना, राम की लड़ाई और सूर्यमुख विशेष रूप से रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर का पहला राजा नाटक समसामयिक हिन्दी नाटकों में रंगमंचीय आवश्यकताओं को पूरा करता है। कथानक, चरित्र, संवाद और भाषा-शैली, रंग विधान, संगीत, दृश्य विधान, अभिनय स्थल, पात्रों की वेशभूषा और रंगमंचीय सजावट आदि सभी का ध्यान लक्ष्मीनारायण लाल, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश बक्षी, सुरेन्द्र वर्मा और नरेश मेहता ने रखा है। यहाँ सभी नाटककारों

की रंगमंच की दृष्टि से विवेचन करना तो संभव नहीं हैं, किन्तु समग्र रूप से निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

(1) समसामयिक हिन्दी नाटकों में जो कथावस्तु चुनी जाती है, वह समकालीन जीवन के किसी संदर्भ को संकेतित करती है। किसी भी साठोत्तर नाटक को उठा कर देख लीजिए, यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन नाटकों में कथावस्तु ऐसी रखी जाती है जिसे आसानी से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। मादा कैक्टस, द्रौपदी, गंगा माटी यक्ष प्रश्न, पहला राजा जैसे नाटक इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

(2) समसामयिक नाटकों की कथावस्तु अधिक अंगों में प्रस्तुत नहीं की जाती है। हाँ, उसमें दृश्य अवश्य ऐसे रखे जाते हैं जो कि नाटक के मूल कथ्य को ईमानदारी से प्रकट कर सकें। यही कारण है कि ऐसा वस्तु विधान अभिनय के अनुकूल रहता है और उसे रंगमंच पर आसानी से ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

(3) मोहन राकेश के नाटकों में किसी को भी उठा लीजिए, सभी में रंगमंचीय आवश्यकताएँ देखने को मिल जाती हैं। यदि यह कह दिया जाए कि समसामयिक नाटकों में मोहन राकेश और लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक ही ऐसे हैं जिन्हें शत-प्रतिशत रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यों यह भी एक प्रमाण है कि इन दोनों नाटककारों के नाटक कई बार स्थान–स्थान पर रंगमंच पर प्रस्तुत किए जा चुके हैं। मोहन राकेश का "लहरों के राजहंस" और "आधे अधूरे" नाटक तो इतने अधिक प्रसिद्ध हैं कि उन्हें अनेक नाट्य संस्थाओं द्वारा मंच पर प्रस्तुत किया जा चुका है। यह मंचन न केवल सफलतापूर्वक हुआ है, अपितु उल्लेखनीय भी रहा हे। इससे यह प्रमाणित होता है कि समसामयिक प्रमुख नाटककार नाट्यसृजन करते समय रंगमंच को विशेषरूप से ध्यान में रखते हैं।

(4) समसामयिक नाटकों में जिन संवादों का प्रयोग हुआ है वे प्रसादकालीन नाटकों में आए संवादों की तुलना में अधिक संक्षिप्त, अधिक व्यंजक और अधिक प्रभावी बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए आधे-अधूरे और यक्ष प्रश्न जैसे नाटकों के संवादों को लिया जा सकता है। आधे-अधूरे के संवाद तो कहीं-कहीं इतने व्यंजक और इतने संक्षिप्त हैं कि पात्र केवल एक शब्द बोलता है और वह शब्द जब रंग-मंच पर दर्शकों को सुनने और देखने को मिलता है तो उसकी व्यंजनाएँ भी दर्शक के हृदय में उतर जाती है। यही स्थिति लक्ष्मीनारायण लाल के मादा कैक्टस नाटक की है। उसमें जो संवाद आए हैं वे न केवल संक्षिप्त हैं, अपितु आधुनिक बोध को निरूपित करने वाले भी हैं। समसामयिक नाटकों में संवादों की स्थिति जितनी कुशलता से नियोजित की गयी है उतनी कुशलता पहले के नाटकों में नहीं की गयी है। अनेक संवाद तो इन नाटकों में ऐसे है जो कथा की टूटी और बिखरी हुई कड़ियों तक को जोड़ देते हैं और अनेक संवाद ऐसे हैं जो न केवल रोचक हैं, अपितु नाटक के मूल उद्देश्य को भी संकेतित कर देते हैं। संवाद) कला की ये विशेषताएँ समसामयिक हिन्दी नाटकों को रंगमंच के अनुकूल बना सकीं है।

(5) समसामयिक हिन्दी नाटकों का आकार लघु है, विस्तृत नहीं। उनमें आए घटना एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि एक संदर्भ के हट जाने से नाटक की कथा

का महल गिरने लगता है। नाटकों को रंगमंचीय आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए समसामयिक नाटककारों ने पात्रों की संख्या भी सीमित रखी है।

(6) स्थान, काल और प्रभाव की एकता भी समसामयिक नाटकों की एक ऐसी विशेषता है तो उन्हें रंगमंचीय गुणों से जोड़ देती है। इतना ही नहीं, इन नाटकों में रंगमंच की सज्जा न केवल आधुनिक है अपितु आकर्षक और प्रभावशाली भी है। नाटककारों ने जो रंग निर्देश अपने नाटकों में दिए हैं, वे सुरुचिपूर्ण तो हैं ही, अपितु नाटक के कथ्य से भी जुड़े हुए हैं। इस दृष्टि से लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, जगदीशचन्द्र माथुर सुरेन्द्र वर्मा और ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि के किसी भी नाटक को लिया जा सकता है।

(7) समसामयिक हिन्दी नाटकों में संगीत योजना, रंग योजना, ध्वनि योजना और संदर्भ योजना भी पूरी कलात्मकता के साथ की गयी है। किस दृश्य के लिए कौनसा रंग कौनसी ध्वनि और कौनसा संकेत और कौनसी सजावट उपयुक्त रहेगी, इन सभी बातों का विधान समसामयिक हिन्दी नाटकों में किया गया है।

(8) किसी भी नाटक को रंगमंचीय और प्रभावशाली बनाने में जो योगदान भाषा और शैली का हो सकता है, वह किसी अन्य तत्व का नहीं। इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होता है कि समसामयिक हिन्दी नाटकों की भाषा ऐसी है जो दर्शकों को आसानी से समझ में आ सकती है। अपवाद स्वरूप कुछ नाटक ऐसे हैं जिनमें भाषा संस्कृतनिष्ठ और परिमार्जित हो गयी है। इस भाषा को समझने में कठिनाई तो होती है किन्तु आज का दर्शक इतना कमजोर नहीं है कि वह ऐसी बातें न समझ सके। मोहन राकेश के "लहरों के राजहंस" और "आषाढ़ का एक दिन" नाटक की भाषा इसी प्रकार की है, किन्तु उनके "आधे अधूरे" नाटक की भाषा इतनी सरल, इतनी यर्थात, इतनी व्यंजक और इतनी आकर्षक है कि वह सहज ही दर्शक के कानों से होती हुई हृदय में प्रवेश कर जाती है। यही स्थिति लक्ष्मीनारायण लाल के मादा कैक्टस, यक्ष प्रश्न, मि. अभिमन्यु और राम की लड़ाई जैसे नाटकों की है इन नाटकों की भाषा अत्यंत सरल और बोधगम्य है। इसी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समसामयिक हिन्दी नाटको का विकास रंगमंचीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर हुआ है और हो रहा है। यह नाटक भी रंगमंचीय आवश्यकताओं के अनुरूप है।

□□□

'ज्योति पुरुष'

पात्र-संयोजन

नरेन्द्र (विवेकानन्द)
बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त
ठाकुर (स्वामी रामकृष्ण परमहंस)
मुंशीजी
विनय
सुयश
निमग्न
मिस्टर हेस्टी
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर
सुरेन्द्रनाथ मित्र
महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर
केशवचन्द्र सेन
भूपेन्द्र
महेन्द्र
शिवानन्द
दाशरथि सान्याल
हृदय
प्रतापचन्द्र हाजरा
कालीप्रसाद
डॉ. महेन्द्रनाथ सरकार

भुवनेश्वरी
पीशी बूआ
श्री माँ (शारदामणि)
हरमोहिनी
स्वर्णमयी
किरण
श्यामा
जमना

इनके अतिरिक्त विद्यार्थी, श्रद्धालु स्त्री-पुरुषों का समूह, चार मछुआरे तथा मन व मस्तिष्क

अंक : एक
दृश्य : एक

स्थान : कलकत्ता स्थित सिमुलियापल्ली में बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त का निवास

समय : प्रातःकाल

(भीतर के मध्यभाग में बने विशाल गोलाकार हॉल की सम्पन्न तालदी, सुरुचिपूर्ण एवं कलात्मक साज-सज्जा। यदाकदा भीतर आ रही हवा की मंद लहरियों से हिलहिल उठते पर्दों के उस पार से बाहर की रंग बिरंगी प्राकृतिक छटा झलकाती खिड़कियों के बीच कुर्सियों से घिरी भोजन की मेज, उस पर रखा एक सुन्दर फूलदान, दक्षिणी दीवार से सटे शीशे के पारदर्शी शो-केस में रखे कुछ खिलौने, उस पर रखी नटराज की विशाल काँस्य प्रतिमा, दीवारों पर टंगे महापुरुषों के कुछ तैलचित्र, छत से लटके तीन सुन्दर फानूस तथा पश्चिमी दीवार के पास बिछा बड़ा झक्क सफेद गद्दा व उस पर रखी दो बड़ी मसनदें।

भोजन की मेज के पास ही रसोईघर का दरवाजा तथा उसी से सटा एक छोटा-सा गलियारा, जो बाहरी बैठक से जुड़ा है, जहाँ कानून की मोटी-मोटी किताबों और आल्मारियों में ठूँस-ठूँसकर भरी फाइलों के बीच बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त अपने मुवक्किलों से भेंट करते है।

दीवार पर टगी पेण्डुलम वाली घड़ी मे इस समय सात बज रहे है।

रसोईघर के दरवाजे के बाहर पीढ़े पर बैठी सब्जी छील और काट रही तथा बीच-बीच मे सफाई के काम मे लगी नौकरानी जमुना पर दृष्टि डाल लेती बैरिस्टर दत्त की विधवा बूआ, जिसे सब पीशी बूआ कहकर पुकारते है।

बगल के पूजाघर से आ रही बैरिस्टर दत्त की पत्नी भुवनेश्वरी के रामायण पाठ की धीमी-मधुर ध्वनि भीतर के शान्त वातावरण में और भी मधुर प्रतीत हो रही है–)

भुवनेश्वरी : (गाती हुई)

पद कमल धोइ चढाइ नाव, न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ, सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहु लखन, पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास, नाथ कृपाल पार उतारिहौं॥
सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना ऐन, चितइ जानकी लखन तन॥

(अचानक पिछले गलियारे से निकलकर भागता हुआ आठ वर्षीय नरेन्द्र तथा उसे पकड़ने का प्रयास करती उसकी दोनों बहिनें हरमोहिनी और स्वर्णमयी भीतर आती है।

नरेन्द्र उनकी पकड़ में आते-आते छूट जाता है तथा अपने को बचाने के लिए भोजन की मेज की दूसरी ओर जा खड़ा होता है।)

पीशी बूआ : (चौंककर) अरे--रे--क्या हो रहा है ये ?

हरमोहिनी : (सावेश) नरेन ने हमारी गुड़िया को पाँवों से कुचल डाला, बूआ ! ये देखो--

(हाथ में लटकी कुचल जाने से अस्तव्यस्त हुई गुड़िया को ऊँची उठाकर बूआ को दिखाती है।)

स्वर्णमयी : (रुआँसे स्वर में) अब इसका ब्याह कैसे होगा ?

पीशी बूआ : (गुस्से में) क्यों रे ?

(खाने की मेज की दूसरी ओर 'बचाव' मुद्रा में खड़े तथा शरारत भाव से मुस्करा रहे नरेन्द्र की ओर आँखे तरेरकर देखती है।)

नरेन्द्र : (उसी भाव से) तुम्हीं बताओ, पीशी बूआ-- बिना दावत भी--कहीं ब्याह होता है ?

हरमोहिनी : (तिनककर) हमारी गुड़िया है--- हम दावत करें--- न करें--- (मुँह बिगाड़ती हुई) तुझे इससे क्या ?

(हाथ की गुड़िया को भोजन वाली मेज पर रखकर उसी ओर झुकती हुई नरेन्द्र को घूरने लगती है।)

नरेन्द्र : (मुँह बनाकर) च--- सोचो जरा--- (नाटकीय अन्दाज़ में) जो--- बाराती को नाराज करोगे-- तो कैसे होगा ब्याह ?

: जा--- जा--- बहुत देखे हैं--- ऐसे बाराती--- (मुँह बिगाड़ती हुई) हुँअ्---

नरेन्द्र : (शरारतभाव से) तो ठीक है--- (सामने पड़ी गुड़िया को गूढ़भाव से निहारते हुए) मैं भी देखता हूँ--- अब कैसे करती है--- अपनी गुड़िया का ब्याह---

(फुर्ती से गुड़िया को लपकते हुए पीछे सरककर विजेताभाव से हँस पड़ता है।

हरमोहिनी रुआँसी सिसक उठती है।)

हरमोहिनी : बू--- आ--- ऽऽऽऽदेखो न--- (रोती हुई) हमारी गुड़िया--- (सिसक उठती है।)

पीशी बूआ : (सब्जी छीलना छोड़ ताड़नाभाव से) ऐ बोड़ू । इतना हल्ला क्यों मचवा रहा है ? (आँखें तरेरकर) जानता नहीं--- तेरी माँ--- रामायण पाठ कर रही है ?

नरेन्द्र : (तमकते हुए) तुमने मुझे--- बोड़ू कहा, बूआ ?

पीशी बूआ : (चाकू टोकरी में रख हाथ पर लगे सब्जी के छिलके साफ करती हुई) बोड़ू को--- बोड़ू नही कहूँगी--- तो--- क्या कहूँगी ? (घूरकर) बोल---

नरेन्द्र : तो फिर सुन लो तुम भी--- (मुँह बनाकर) हल्ला भी--- मचाने का ही होता है--- सो मचाऊँगा। मैं--- खूब मचाऊँगा--- (अल्हड़ अन्दाज़ मे) हो--- हो--- हो--- हो---

(हाथ की गुड़िया को हवा में नचाते हुए नरेन्द्र उछलने-कूदने व ज़ोर-ज़ोर से हल्ला मचाने लगता है।)

पीशी बूआ : (लपकने की मुद्रा में) ठहर---- अभी बताती हूँ तुझे----

(सब्जी की टोकरी एक ओर सरकाती हुई नरेन्द्र को पकड़ने उठती है। नरेन्द्र बचने के उद्देश्य से सफाई के काम मे लगी नौकरानी जमना की ओर सरक जाता है।)

जमना : (काम छोड़ नरेन्द्र की ओर पलटती हुई) यूँ--- बहिनों को नही रुलाते, बबुआ !

पीशी बूआ : (उसी ओर बढ़ती हुई) ज़रा---- अच्छी तरह से पकड़ के रख इसे---- जमना !

जमना : (प्यार से) गुड़िया लौटा दो, बबुआ !

(नरेन्द्र के हाथ से गुड़िया लेने का प्रयास करती है, पर वह उसका हाथ झटककर उसे एक ओर धकेलते हुए भोजन की मेज़ की बगल से पूजाघर के दरवाज़े की ओर भागता है तथा ठीक इसी क्षण रामायण पाठ पूरा कर पूजाघर से बाहर निकली अपनी माँ भुवनेश्वरी से टकराकर धराशायी हो जाता है।

हाथ की गुड़िया छिटककर दूर जा पड़ती है।)

भुवनेश्वरी : (चौंककर) बिलेह !

(नीचे गिरी गुड़िया तथा हरमोहिनी व स्वर्णमयी को रूआँसी भावमुद्रा में लपककर गुड़िया उठाते देख भुवनेश्वरी सारी बात समझ गई।)

(तीव्र स्वर में) ये सब क्या है ?

नरेन्द्र : (बनावटी भोलेपन से) कुछ भी तो नहीं, माँ !

(पकड़े जाने की आशंका से उठकर पीछे की ओर हटते हुए दीवार से सट जाता है।)

ये अपनी---- गुड़िया के ब्याह में---- दावत नही खिलाएगी---- तो फिर---- (शरारत भरी मुस्कान के साथ तिरछी दृष्टि से बहिनों को निहारते हुए) ये सब तो--- होगा ही---

भुवनेश्वरी : (ममताभरी ताड़ना के भाव से) इतना चटोरा- कबसे हो गया, रे तू ?

नरेन्द्र : वाह, माँ ! वाह---- (रूककर) दावत खाने वाला---- क्या---- चटोरा हो जाता है ? क्या तुम्हारे गणेशजी---- मोदकप्रिय नहीं हैं ? (मुँह बनाकर) बस---- लड्डू का प्रसाद चढ़ाओ---- मनचाहा वरदान पाओ---। (रूककर) तिस पर---- तुम्हारे रामजी ने तो---- शबरी के जूठे बेर तक नहीं छोड़े--- (शरारत भरी मुस्कान के साथ) बोलो--- क्या कहोगी उन्हें---- (मुँह बनाकर) चटोरा---- *या कुछ और ?*

भुवनेश्वरी : (कृत्रिम क्रोध के साथ) ठहर जा तू---- मेरे रामजी की निन्दा करता है, दुष्ट !

(शरारत भरे अन्दाज़ मे खिलखिलाता हुआ नरेन्द्र माँ की पकड़ से बचता हुआ तथा पास खड़ी बहिनो को धकियाता हुआ बाहर की ओर भाग जाता है।)

पीसी बूआ : कुछ भी कह, बहू ! (रूककर) पू---- रा---- शैतान का अवतार ही है---- तेरा यह लाड़ला---- बिलेह----

(उत्तर मे माथे का पल्लू ठीक करते हुए भुवनेश्वरी शालीन, किन्तु मीठे भाव से मुस्करा देती है। कमर पर एक हाथ टिकाए पीसी बूआ दृष्टि में वार्द्धक्य की ताड़ना का भाव लिए कुछ क्षण उसी दिशा की ओर देखती रहती है, जिधर से शरारती नरेन्द्र अभी-अभी भाग निकला था।)

□

अंक : एक
दृश्य : दो

स्थान : बैरिस्टर दत्त का शयनकक्ष

समय : रात्रि

(हर प्रकार की सुख-सुविधाओ से लदा शयनकक्ष इस समय एकदम शान्त है।

पैडस्टल लैम्प के सुहावने प्रकाश में धोती-कुर्त्ता पहने, आँखो पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा चढ़ाए तथा एक हाथ मे पास ही रखे चाँदी के बहुमूल्य हुक्के का पेचवान पकड़े अपने बाँए घुटने पर दाहिनी टाँग टिकाकर सोफे पर आराम की मुद्रा में बैठे बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त एकाग्र भाव से कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हैं।

कक्ष में बिखरी गम्भीर शान्ति के बीच यदा-कदा हुक्के की 'सुड़क्' तथा रसोईघर में से आ रही बर्तनों की हल्की-सी 'खड़खट्' की ध्वनियाँ व पदचापें इस बात का स्पष्ट संकेत दे रही थी कि घर के लोग अभी जाग रहे है तथा दिनचर्या का कुछ भाग अभी शेष है।

इसी क्षण दोनो हाथों मे दूध का ग्लास लिए बैरिस्टर दत्त की पत्नी भुवनेश्वरी शयन-कक्ष में प्रवेश करती है - पल्लू ढँका माथा, ललाट पर 'दप्‌दप्' करती बड़ी लाल सुहाग बिन्दिया तथा मुख पर फैली शान्त, मधुर गम्भीरता से ओत-प्रोत मुस्कानयुत सुघड, सलौना, शालीन एवं भव्य व्यक्तित्व।

पुस्तक पढ़ने मे तल्लीन विश्वनाथ को भुवनेश्वरी के आने का जरा भी आभास नही हो पाता।

उनके एकदम निकट आकर चुपचाप खड़ी कभी पुस्तक को, तो कभी पति की भावमग्न मुद्रा को निहारती भुवन के होंठो पर सहसा मीठी मुस्कान खिंच जाती है-)

भुवनेश्वरी : (मीठे उपालम्भ के साथ) लगता है---- क्रिस्तान बनकर ही तुम----

(विश्वनाथ दत्त की ध्यान-मुद्रा एक झटके से बिखर जाती है तथा चौंकी दृष्टि सहज ही पुस्तक के खुले पृष्ठों से उठकर अपनी ओर निहारती भुवनेश्वरी की मीठे उपालम्भ से भरी दृष्टि से जा टकराती है।)

विश्वनाथ : (खुले पृष्ठ का कोना मोड़कर पुस्तक बंद करते हुए वैसी ही मीठी मुस्कान के साथ) बाइबिल पढने से---- क्या कोई---- क्रिस्तान बन जाता है, भुवन ? (रुककर) क्या---- ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए---- ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन वर्जित है ?

(हाथ की बाइबिल को बगल की मेज पर रखते हुए अपनी प्रश्नमयी दृष्टि भुवनेश्वरी के मुख पर गड़ा देते हैं।)

भुवनेश्वरी : सो मैं---- कब कहती हूँ---- ?

(दूध का ग्लास पति के हाथ मे देते हुए बगल के सोफे पर बैठ जाती है।)

मगर---- तुम तो---- रोज नियम से बाइबिल पढ़ते हो---- (मीठे व्यंग्य भाव से) क्या---- ज्ञानपिपासा शान्त करने की सामर्थ्य---- हमारी अपनी संस्कृति में---- अपने धर्म में नहीं है जो----

विश्वनाथ : (बात काटते हुए) रुको ! (दूध का लम्बा घूँट पीकर ग्लास को मेज पर रखते हुए) अपनी संस्कृति---- अपना धर्म---- यह कहना तो संकीर्णता वाली बात हुई----

भुवनेश्वरी : सो क्यों भला ? (सरक गए आँचल को माथे पर खींचती हुई) क्या क्रिस्तानों का धर्म और उनकी संस्कृति---- हमसे अलग नही है ?

विश्वनाथ : पहले---- मै भी ऐसा ही सोचता था----

भुवनेश्वरी : तो क्या---- बाइबिल पढ़कर अब तुम्हारा सोच बदल गया है ?

विश्वनाथ : बदला तो नहीं---- पर, व्यापक हो गया है। (रुककर) अब मैंने यह समझ लिया है कि---- 'इतर' को जाने बिना भेद-अभेद का सही निर्णय नही किया जा सकता---- कहो तो---- किसी भी लकीर के 'छोटे' या 'बडे' होने का निर्णय---- क्या, 'अन्य' लकीर से तुलना किये बिना सम्भव है ?

(भुवनेश्वरी पलभर के लिए सोच मे पड़ जाती है।)

(भुवन के मुख पर प्रश्नात्मक दृष्टि डालते हुए) नहीं न ?

(दूध के तीन-चार लम्बे-लम्बे घूँट पीकर विश्वनाथ ग्लास खाली कर देते है।)

भुवनेश्वरी : (उत्सुकता-भाव से) तो तुम्हारा मतलब है----

विश्वनाथ : (बात काटते हुए समझाने के भाव से) देखो जिसे तुम अपनी संस्कृति और अपना धर्म कहती हो---- उससे इतर माने जाने वाले क्रिस्तानों की

बाइबिल को मैं---- यही जानने के लिए पढ़ता हूँ कि आखिर---- इसमें ऐसा क्या है---- जो हमसे भिन्न है---- अथवा हममें ऐसा क्या है---- जो बाइबिल में नहीं है।

भुवनेश्वरी : तो फिर---- क्या पाया तुमने ?

विश्वनाथ : यही कि---- विश्व में धर्म और संस्कृति के जो भी रूप आज प्रचलित हैं---- उन सबका मूल एक ही है---- (रुककर) जैसे एक ही प्रस्फुटित बीज धरती की सतह से बाहर निकलकर---- भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के साथ अलग-अलग दिशाओं में अपना स्वरूप विकसित कर लेता है।

(भुवनेश्वरी अपनी भावमुग्ध दृष्टि पति के चेहरे पर गड़ाए बहुत ध्यानपूर्वक पूरी बात सुनती रहती है।)

बाह्य दृष्टि वाले---- मात्र उस 'भिन्नता' को ही देखते हैं---- इसीलिए उन्हें हर धर्म---- हर सस्कृति अलग प्रतीत होती है। ऐसे में बुद्धि भी तो यह नही सोच पाती कि भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार में भिन्न-भिन्न दिशाओ में विकसित टहनियों का आधार 'बीजरूप बिन्दु' तो एक ही है----

भुवनेश्वरी : (मुग्ध भाव से) कैसी सुन्दर कल्पना है तुम्हारी ?

विश्वनाथ : ये मेरी कल्पना नहीं---- शास्त्रो का सत्य है, भुवन ! (रुककर) श्रीकृष्ण के कथनानुसार सारे 'मार्ग' उन्ही से मिलते हैं---- बाइबिल कहती है---- धरती के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी हर 'किरण' हमें---- एक ही 'सूर्य' तक ले जाती है। (रुककर) और तो और---- 'कर्म' का महत्त्व 'गीता' भी मानती है---- और 'बाइबिल' भी। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं---- तुम 'कर्म' करो---- 'फल' तुम्हें मैं दूँगा---- दूसरी ओर ईसा कहते हैं---- तुम खोजो---- तो पाओगे---- खटखटाओगे---- तो द्वार खुलेगा---- (भावुक स्वर मे) 'कर्म' की कैसी उत्कट प्रेरणा भरी है समानरूप से दोनों में---- ?

भुवनेश्वरी : (उत्सुकता भाव से) तो फिर---- जो लोग---- इनमें भेद करते हैं----

विश्वनाथ : (हुक्के का कश सुड़कते हुए) वे अंधेरे में हैं, भुवन ! (रुककर) सोचो---- नाम बदल देने से ही---- क्या कोई अलग हो जाता है ? (मुँह बनाकर) क्या---- तुम्हारा बिलेह कोई और है---- और हमारा नरेन---- कोई और ?

(भुवनेश्वरी उत्तर में कुछ कहती इससे पूर्व ही उछलता-कूदता नरेन्द्र वहाँ आ धमकता है-)

नरेन्द्र : माँ---ऽऽऽ---बा----बा ऽऽऽ---

(माँ भुवनेश्वरी की ओर मीठी निगाहों से निहारते हुए नरेन्द्र सीधा अपने पिता विश्वनाथ की गोद मे आ बैठता है।)

भुवनेश्वरी : (सहास्य) लो---- शैतान को याद किया नही कि---- शैतान आ धमका----

नरेन्द्र : (बालसुलभ रोष के साथ) देखो न, बाबा ! (मुँह बनाकर) माँ मुझे शैतान कहती है----

नरेन्द्र : (दृष्टि में मीठी ताड़ना का भाव लिए) कहूँगी नहीं क्या ? कितना तंग करता है सबको---- ? (पति विश्वनाथ की ओर देखकर) जा हो--- आज मुझे ठीक से रामायण पाठ भी नहीं करने दिया--- तुम इस लाडले ने----

विश्वनाथ : (स्नेह भरी ताड़ना के स्वर में) क्यों रे---- माँ के रामायण पाठ समय---- इतना ऊधम क्यों किया तूने आज ?

(ममत्व भाव में नरेन्द्र को अपनी भुजा में कस लेते है।)

नरेन्द्र : (नाटकीय अन्दाज़ में भोलेपन के साथ) ऊधम ? नहीं तो, बाबा ! (मुँ बनाकर शरारत भरी दृष्टि से माँ को निहारते हुए) माँ---- अपना रामाय पाठ कर रही थी---- तो क्या मैं---- अपना महाभारत पाठ भी नहीं कर भला ?

(कहते कहते वाक् पटु नरेन्द्र के मुंह पर विजयी मुस्कान खिच जा है।)

भुवनेश्वरी : देख लिया न ?

विश्वनाथ : (दुलारते हुए) देखो, बेटे ! तर्क देकर 'अनुचित' को 'उचित' सिद्ध न किया जा सकता।

भुवनेश्वरी : तर्क के तीर तो---- इसके तरकश में---- हर घडी तैयार ही रहते हैं (सहास्य) बैरिस्टर का बेटा है न---- बैरिस्टर ही बनेगा----

नरेन्द्र : तुमसे किसने कहा, माँ---- मैं बैरिस्टर बनूँगा ?

भुवनेश्वरी : लक्षण तो तेरे---- यही कह रहे हैं। (उत्सुक स्वर में) अच्छा---- क तो---- बैरिस्टर नहीं बनेगा---- तो फिर---- क्या बनेगा तू ?

नरेन्द्र : (शरारत भरी मुस्कान के साथ) कोचवान।

भुवनेश्वरी : (चौंककर) क्या---- क्या कहा तूने ?

(माँ भुवनेश्वरी हक्की-बक्की-सी नरेन्द्र को देखती रह जाती है। पित विश्वनाथ का चेहरा भी कुछ क्षण के लिए गम्भीर हो जाता है। पलभर के लिए दोनों में से कोई कुछ नहीं बोल पाता।)

(अविश्वास भाव से) कोचवान बनेगा ? कलकत्ता के इतने बड़े बैरिस्ट का बेटा बड़ा होकर कोचवान बनेगा ? (खीझभरे स्वर में) लज्जा नहीं आएगी तुझे ---- क्यों रे?

नरेन्द्र : इसमें लज्जा कैसी ? क्या कोचवान मनुष्य नहीं है ? या कि उसे---- मनुष्य के समान सुख-दुख नहीं होते ? या कि उसका लहू लाल नहीं है ? (रुककर) यदि है---- तो फिर ऐसी धारणा क्यों ?

(कुछ क्षण विश्वनाथ और भुवनेश्वरी - दोनों में से कोई कुछ नहीं बोल पाते। स्तब्ध-से उसे देखते रहते है टुकुर-टुकुर।)

भुवनेश्वरी : मनुष्य होने तथा लहू का समान रंग, समान सुख–दुख होने से क्या होता है रे ? (रुक कर) कहाँ बैरिस्टर---- और कहाँ कोचवान ?

नरेन्द्र : कोचवान भी कोई साधारण व्यक्ति नही होता, माँ ! (पिता के हाथ में पकड़े हुक्के के पेंचवान की नली से खेलते हुए) जो बलवान घोड़े को---- और घोड़ागाड़ी को नियंत्रित रखता है---- वो साधारण कैसे हुआ ? यह तो विशिष्ट योग्यता की बात हुई। (रुककर) हर कोई तो घोड़ागाड़ी चला नहीं सकता। चलाएगा तो---- घोड़ा किधर ही जाएगा---- और घोड़ागाड़ी किधर ही----

(और 'हो-हो' कर हँस दिया नरेन्द्र।
भुवनेश्वरी और विश्वनाथ हतप्रभ भाव से देखते ही रह गए उसे।)

विश्वनाथ : (तत्काल ही अपने को सहज बनाते हुए सहास्य) लगता है---- जल्दी ही तू---- बैरिस्टरों के भी कान काटने लगेगा----

भुवनेश्वरी : (मीठी ताड़ना के भाव से निहारती हुई) वाचाल कहीं का !

नरेन्द्र : सही तर्क करना---- क्या वाचालता है, बाबा ?

विश्वनाथ : सही तर्क वाचालता नहीं होता---- यह तो ठीक है--- (अटकते स्वर में) पर--

(रहस्यमय अन्दाज में अपनी दृष्टि को नरेन्द्र के मुख पर गड़ाते हुये पलभर के लिए चुप हो जाते हैं विश्वनाथ दत्त।)

नरेन्द्र : (उत्सुक स्वर में) पर---- ?

विश्वनाथ : पर---- (मुख पर नाटकीय गम्भीरता ओढ़ते हुए) तर्क सही है---- इसका निर्णय---- (मुँह बनाकर) खुद ही कैसे कर लिया, तर्काचार्यजी ?

(गोद मे बैठे नरेन्द्र के दोनों कंधे पकड़ते हुए ठहाका लगाकर हँस पड़ते हैं बैरिस्टर दत्त।)

नरेन्द्र : (मुँह बिगाड़ते हुए) देखिए---- लगे न आप भी माँ का पक्ष लेने ?

विश्वनाथ : (परिहासभाव से) अब बैरिस्टर हूँ---- तो अदालत में---- किसी न किसी का पक्ष तो लेना ही होगा मुझे----

(सहसा नरेन्द्र के मुँह पर एक शरारती मुस्कान उभरती है।)

नरेन्द्र : (मुँह बनाकर) मगर---- आपकी खिचड़ी पकेगी नहीं इस अदालत में।

(सम्मिलित हँसी की एक छोटी-सी हिलोर मे कक्ष के भीतर का संसार पलभर के लिए रसमय हो जाता है।)

विश्वनाथ : (केश सहलाते हुए) अच्छा---- अब सो जा---- (सहास्य) आज क्या---- पीशी बूआ से लड़ आया तू ?

नरेन्द्र : नही, बाबा । आज मैं माँ के पास ही सोऊँगा। (रुककर) मुझे उनसे---- महिषासुर–मर्दिनी की पूरी कहानी जो सुननी है----

(पिता की गोद से उठकर माँ भुवनेश्वरी के पास जा खड़ा होता है।)

(भुवनेश्वरी का हाथ पकड़कर) चलो, माँ ।

(माँ का हाथ खीचने लगता है।)

□

अंक : एक
दृश्य : तीन

स्थान : बैरिस्टर दत्त के भवन का बाहरी भाग

समय : प्रात काल

(आसपास झूमती ताजा हरीतिमा के बीच स्वच्छ-उजली धुली लाल पाट वाली श्वेत साड़ी के पल्लू से भली-भाँति सिर ढाँपे तथा दोनों हाथों मे जलपात्र लिए भवन के बाहरी आंगन में स्थित तुलसी चौरे के चारों ओर भक्तिपूर्वक परिक्रमा करती सद्यः स्नाता भुवनेश्वरी। उसके अर्द्धनिमीलित नेत्रों से झाँक रही भावमयी सात्विकता तथा अधरों पर मंद-मद थिरकती तुलसी-वन्दना की अस्पष्ट गुनगुनाहट - मिलकर वातावरण को और भी पवित्र बना रही थी। तुलसी चौरे से कुछ दूर हटकर परिसर के उत्तरी कोने मे खड़े एक घने वृक्ष की छाया तले बनाए गए बाड़े में घास चरती तथा पास ही उछल-कूद कर रहे अपने बछड़े को यदा-कदा चाट-सूंघ लेती श्यामा गाय के आसपास साफ-सफाई में लगी नौकरानी श्यामा बीच-बीच में सिर घुमाकर परिक्रमा करती भुवनेश्वरी की ओर देख लेती।

तीन परिक्रमाएँ पूरी कर भुवनेश्वरी अपने दोनों हाथ उठा जलपात्र से तुलसी को अर्घ्य देती है। तदुपरान्त खाली जलपात्र को लिए हुए ही प्रणाम की मुद्रा मे मस्तक झुका लेती है।

सहसा श्यामा रंभा उठती है।

अचानक ध्यानभग हो जाने के कारण चौंकी भुवनेश्वरी उसी ओर पलटती है-)

भुवनेश्वरी : अब तो--- बछड़े को खोल दे, श्यामा !

(सरक आए पल्लू को माथे पर खीचती हुई भुवनेश्वरी उसी ओर बढ़ती है।)

(महास्य) कैसी माँ है री तू ! श्यामा होकर भी श्यामा के भीतर की ममता भरी छटपटाहट को नहीं पहचानती ।

श्यामा : (मीठी मुस्कान के साथ) तुम नहीं जानती, बऊदी । (उछलकूद कर रहे बछड़े की ओर ममता भरी दृष्टि तैरती हुई) बहुत पेटू और ढीठ हो गया है ये !

(खूँटे पर बँधी रस्सी खोलने लगती है।)

(रस्सी खोलकर मीठी ताड़ना के भाव से उसे गाय की ओर धकेलती हुई) जा----

(बछड़ा लपककर श्यामा गाय के थनो से अपना मुँह लगा देता है तथा उछल-उछलकर दूध पीने लगता है। गाय भी घास चरना छोड़ रंभाती हुई उसे चाटने-दुलारने लगती है।

यह सब देख दोनों ही मुस्करा उठती है।)

(सहास्य) इसका वश चले---- तो---- सारा का सारा दूध ही चट कर जाए----

भुवनेश्वरी : (ममता भरे स्वर में) माँ के दूध पर---- पहला अधिकार तो---- सन्तान का ही होता है न, श्यामा ?

श्यामा : सो तो है, बऊदी ।

(बछड़े की चपल आतुरता को देख श्यामा और भुवनेश्वरी एक साथ हँस पड़ती है।

ठीक इसी क्षण मुख्य द्वार से लाल कपड़े से बंधा बस्ता बगल मे दबाए एक अधेड़-सा व्यक्ति भवन-परिसर मे प्रवेश करता है – कुर्ता धोती पहने, धोती की लम्बी लांग का छोर कंधे पर डाले तथा आँखो पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा चढ़ाए।

उस ओर पीठ होने तथा परिहासमग्न होने के कारण भुवनेश्वरी व श्यामा को उसके आगमन का आभास ही नही हो पाता।

आगन्तुक पलभर के लिए वही ठिठक जाता है, फिर अगले ही क्षण सीधे हाथ की तर्जनी से नाक पर सरक आया चश्मा ठीक करते हुए सकुचाए भाव से उसी ओर कदम बढ़ाता है–)

आगन्तुक : (हाथ जोड़कर) प्रणाम, बऊदी !

(भुवनेश्वरी व श्यामा की सम्मिलित हँसी एक झटके के साथ रुक जाती है।)

भुवनेश्वरी : (चौंककर पलटती हुई) अरे---- मुंशीजी आप ? (उत्सुक भाव से) कब लौटे रायपुर से ?

मुंशीजी : जी---- रात ही लौटा हूँ----

भुवनेश्वरी : (सविस्मय) अकेले ही ?

मुंशीजी : जी---- (सहमे भाव से) विश्वनाथ बाबू तो---- अभी---- पन्द्रह दिन और नहीं लौट पाएँगे, बऊदी !

(सुनते ही भुवनेश्वरी के मुख पर उदासी के भाव उभर आते है।)

भुवनेश्वरी : (सहास्य) लगता है---- आपको और आपके बाबू को---- रायपुर की आबोहवा---- बहुत रास आ गई है----

मुंशीजी : (खिसियाई मुस्कान के साथ) नहीं---- नही---- ऐसी बात नहीं है, बऊदी,

। (मुशी जी की बातों की आवाज सुनकर पीशी बूआ उत्सुक भाव बाहर निकल आती है–)

पीशी बूआ : (ऊँचे स्वर में) कौन आया है, बहू ?

भुवनेश्वरी : (सिर का पल्लू ठीक करती हुई) जी---- मुंशीजी आए हैं----

मुशीजी : (सामने से आ रही बूआ की ओर देखते हुए) प्रणाम, पीशी बूआ !

पीशी बूआ : (घुटनो के दर्द के कारण हल्की लगड़ाहट के साथ उसी ओर आ हुई) खुश रहो---- मुंशी ! खुश रहो----

(पास ही लॉन से सटाकर रखी गई संगमरमर की बैंच पर बैठ जा है।)

(आराम की मुद्रा में पीठ टिकाती हुई) कहो---- निपटा आए रायपुर अपने---- सारे मुकदमे ?

मुशीजी : (लम्बी थकी साँस के साथ) कहाँ---- पीशी बूआ ? अभी तो---- पन्द्र दिन और लग जाएँगे----

पीशी बूआ : तो क्या---- बिशू को फिर जाना होगा---- रायपुर ?

मुशीजी : इसीलिए तो---- विश्वनाथ बाबू वहीं रह गए----

पीशी बूआ : (चौंककर) क्या मतलब ?

(कुछ क्षण चुप्पी रहती है।)

(भुवनेश्वरी की ओर देखकर) तू उसे---- कुछ---- कहती नही, बहू ?

भुवनेश्वरी : क्या कहूँ, बूआजी ? (सिर झुकाकर) वे किसी की सुनें तब न ?

मुशीजी : रायपुर का काम बहुत बढ़ गया है, बूआजी !

पीशी बूआ : तो---- यहाँ कौन कम काम था पहले ही ?

मुंशीजी : यहाँ की बकाया पेशियों के लिए अगली तारीखें लेने ही तो आना पड़ा मुझे---- बीच ही में----

पीशी बूआ : फिर क्या---- लौट जाओगे तुम भी ?

मुंशीजी : जी, बूआजी। (नाक पर फिर से सरक आया चश्मा ठीक करते हुए) बाबू कहते हैं----

पीशी बूआ : (उत्सुक स्वर में) क्या कहते हैं---- तुम्हारे बाबू ?

मुशीजी : जी---- (सहमी मुद्रा और अटकते स्वर में) वहाँ रायपुर में भी---- अलग से और एक ऑफिस खोलने और---- नया मुशी रखने को बोल रहे हैं----

पीशी बूआ : (झुँझलाकर) फिर तुम्हारे बाबू---- वहाँ अलग से एक घर भी क्यों नहं ले लेते----

मुशीजी : जी---- बोल रहे थे---- (सहमे स्वर में) हो सके तो---- कुछ दिन के लि बच्ची को साथ लेते आना----

भुवनेश्वरी : नहीं---- नहीं---- मैं कहीं नहीं जाऊँगी---- बूआजी और बच्चों को अकेले छोड़कर---- (रुककर) तिस पर---- बिलेह जैसे शरारती को छोड़कर तो कतई नहीं----

(प्रतिक्रिया में कुछ क्षण कोई कुछ नहीं बोल पाता।)

मुंशीजी : (खिसियाई मुद्रा में) बूआजी ! तनिक बैठक खुलवादें तो----

पीशी बूआ : हाँ---- हाँ---- (बाड़े में काम कर रही श्यामा की ओर देखकर) श्यामा ! मुंशीजी को बैठक खोल दे----

श्यामा : जी, बूआजी !

(हाथ का काम बीच ही में छोड़ श्यामा बैठक खोलने चल देती है। पीछे-पीछे ही मुंशी जी भी।)

पीशी बूआ : जमना का कुछ पता चला, बहूरानी---- दो दिन से क्यों नहीं आई ?

भुवनेश्वरी : लगता है---- उसके शराबी---- जुआरी पति ने---- फिर उससे मारपीट की है---- तभी तो----

(ठीक इसी क्षण भवन परिसर के मुख्य प्रवेश-द्वार का कुण्डा खड़क उठने के कारण भुवनेश्वरी की बात बीच ही में रह जाती है।
दृष्टियाँ एक साथ उसी ओर घूम जाती है तो सामने से जमना आती दीख पड़ती है। निकट आते-आते उत्सुक दृष्टियों को उसकी बेहाल अवस्था से उनके उत्तर स्वत. ही मिल जाते हैं - अस्त-व्यस्त कपड़े, बिखरे बाल, रोई-रोई ललछौंही सूजी हुई-सी आँखें, पपड़ाए होंठ, माथे पर उठा गूमड़ और चेहरे पर लगी एकाध खरौंचें।)

पीशी बूआ : जमना ? (अपनी तीखी दृष्टि जमना के चेहरे पर गड़ाती हुई) ये सब----- क्या है ?

(बात पूरी होते न होते बेहाल जमना लपककर पीशी बूआ के घुटनों पर माथा टिका फफक उठती है।
वातावरण अचानक भावुक हो उठता है।
भुवनेश्वरी पीशी बुआ के पास बैठ भीगे मन से जमना के केश सहलाने लगती है-)

भुवनेश्वरी : (कोमलभाव से) आखिर बात क्या है ? (रुककर) कुछ कह तो----

(स्वामिनियों की स्नेह भरी सहानुभूति पाकर जमना के रोने-फफकने का वेग बढ़ जाता है। कुछ क्षण यही सब चलता रहता है।)

पीशी बूआ : (सुबकती जमना का कँधा पकड़कर) बोल जमुनी !

(व्यथा के वेगवान तूफान और आँसुओं की धारासार वर्षा के बीच जमना अपना चेहरा ऊपर उठाती है।)

जमना : (रुदन और सुबकियों के बीच) इस बार लौटकर नहीं जाऊँगी----- पीशी बूआ ! (रुककर) चाहे गंगा में कूदकर---- अपनी जान ही क्यों न दे देनी पड़े मुझे---- (कठोर भाव से) कहे देती हूँ----

पीशी बूआ : ऐसा अशुभ---- मत बोल, जमनी !

जमना : (आहत् स्वर में) तो फिर क्या करूँ ?

(घुटन और छटपटाहट से भरी जमना अपनी प्रश्नदृष्टि पीशी बूआ के चेहरे पर गड़ा देती है, जहाँ इसका कोई उत्तर दिखाई नहीं पड़ रहा था।

इसी बीच हल्ला-गुल्ला व रुदन-सुबकियाँ सुनकर हाथ में एक डण्डे पर कपड़ा लपेटकर बनाई जा रही हनुमानजी की गदा लिए नरेन्द्र तथा बगल में अपनी गुड़ियों को लटकाए हरमोहिनी व स्वर्णमयी उत्सुकमुद्रा में बाहर निकल आते है, पर स्थिति देख दरवाज़े पर ही ठिठक जाते हैं।)

बोलो, पीशी बूआ ! क्या करूँ मैं ? (सावेश) पिटती रहूँ इसी तरह ? सहती रहूँ चुपचाप---- ये सारा अन्याय ?

पीशी बूआ : (गम्भीर स्वर में) अन्याय तो इसमें---- है, जमना ! मगर ये सब---- (लम्बी साँस लेती हुई) अब---- स्त्री की नियति ही बन गया है----

(स्थिति को समझ तथा बूआ की बात सुनकर अपने को रोक न सका नरेन्द्र।)

नरेन्द्र : (उसी ओर आते हुए) झूठ, पीशी बूआ !

(तीनों ही स्त्रियाँ चौंककर एक साथ विस्मित भाव से नरेन्द्र की ओर देखने लगती है।

इस बीच मुंशीजी को बैठक का दरवाज़ा खोलकर लौटी श्यामा भी उत्सुक भाव से वहीं आ खड़ी होती है।)

नरेन्द्र : (पास आकर) एकदम झूठ----

पीशी बूआ : (कौतुक भाव से) सो कैसे रे ?

नरेन्द्र : अच्छा---- तुम्ही बताओ---- बाबा माँ से कुछ कहते हैं--- इस तरह कभी ?

(पीशी बुआ मंत्रविद्ध मुद्रा में 'न' कार भाव से गर्दन हिला देती है।)

(सोत्साह) फिर तुम्हारी बात सच कैसे हुई ? (रुककर) जानती नहीं---- 'मनुस्मृति' क्या कहती है---- (मुँह बनाकर) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते---- रमन्ते तत्र देवता:----

भुवनेश्वरी : (ताड़ना भाव से) रहने दे---- रहने दे---- अपनी बकवास---- (रुककर) पढ़ने में तो जी लगता नहीं ज़रा भी----

नरेन्द्र : ऐसा मत कहो, माँ ? मुझे सब याद है-- कहो तो-- सुनाऊँ व्याकरण के सूत्र ?

पीशी बूआ : (दोनो हाथो से अपने दोनों गाल थपकाती हुई आश्चर्य-मुद्रा में) उई माँ---- ज़रा-सा छोरा---- शास्त्रों की बातें करने लगा है ?

(अविश्वास-भरी दृष्टि से नरेन्द्र को घूरने लगती है।)

- : तुम बिल्कुल चिन्ता न करो, जमना मौसी ! (हाथ की गदा को नचाते हुए) इस हनुमान गदा के प्रहार से---- तुम्हारे सारे कष्ट चूर-चूर हो जाएँगे----

(जमना के गालों पर खिंच आई अश्रुलीकों को अंगुली के पोर से झटक देता है।)

जमना : (भीगे स्वर में) बबुवा !

(व्यथित जमना रोना भूलकर सहसा भावुक हो उठती है तथा अपने भरे नयनों में ममता की मिठास लिए नरेन्द्र के केश सहलाने लगती है।)

पीशी बूआ : (ताड़ना के स्वर मे) तूने---- फिर शुरू कर दिया न अपना नाटक ?

(नरेन्द्र बूआ की ताड़ना को अनसुना कर अपनी हनुमानगदा को वानरी अन्दाज़ में नचाते हुए बाहर की ओर चल देता है।)

अरे---- रे---- सुबह-सुबह ही कहाँ चल दिया ?

नरेन्द्र : हनुमानजी का आशीर्वाद लेने---- केलाबाड़ी----

भुवनेश्वरी : (मुस्कान भरे स्वर मे) मगर--- केलाबाड़ी में हनुमान जी कहाँ मिलेंगे तुझे ?

नरेन्द्र : (रुककर पलटते हुए) उस दिन भागवत कथा वाले पण्डित जी ने कहा तो था---- हनुमानजी को केला बहुत प्रिय है---- (रुककर) वे नित्य केला खाने वहाँ आते हैं----

(अचानक श्यामा की हँसी छूट पड़ती है, जिसे वह मुँह पर पल्लू लगा बरबस रोकने का विफल प्रयास करती है।)

तू हँसती है, श्यामा ? (आँखे तरेरकर) सूर्य को भी निगल लेने वाले और सीता मैया की विपत्तियों का हरण करने वाले हनुमान जी पर हँसती है ?

श्यामा : (हँसी रोक सहमे भाव से) ना भैया---- ना---- (सफाई के अन्दाज़ में) मुझे तो तुम्हारी उछल-कूद पर हँसी आ गई थी---- हनुमानजी पर नहीं---- (दोनो हाथ जोड़ श्रद्धाभाव से) वे तो संकटमोचन हैं---- तिस पर---- तुम्हारी ये गदा---- (सहास्य) बाबा रे---- बाबा----

नरेन्द्र : देख लेना---- हनुमानजी जमना मौसी के कष्ट चूर-चूर कर देंगे---- और झरबेरी के गाछ पर रहने वाले भूत को भी भगा देंगे----

भुवनेश्वरी : (घबराकर) मगर---- तू न जाना---- उस झरबेरी के पास----

नरेन्द्र : नहीं जाऊँगा---- तो उस भूत को भगाऊगा कैसे ?

(हनुमान गदा नचाते हुए बाहर की ओर दौड़ पड़ता है।)

पीशी बूआ : मगर सुन तो---- (ऊँचे स्वर मे) नरेन---- रुक जा----

(मगर नरेन्द्र नहीं रुकता।)

(चिंतित स्वर मे) हे भगवान ! क्या करें इस छोकरे का--- ? (सोचती हुई) इस बार विशू रायपुर से आ जाए लौटकर---- तो----

भुवनेश्वरी : मुझे तो कभी-कभी इस लड़के से बहुत डर लगने लगता है, बूआजी।

पीशी बूआ : तू फिक्र न कर, बहू ! (नि:श्वास के साथ) सब ठीक हो जायेगा।

(भुवनेश्वरी दृष्टि मे आशंका लिए शून्य निहारने लगती है।)

□

अंक : एक

दृश्य : चार

स्थान : मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट

समय : दोपहर

(अध्यापक के कक्षा मे न होने के कारण सहज ही अगम्भीर बन गए वातावरण में अपनी-अपनी सीटो से उठकर पास-पास सिमट आए तथा बेतरतीब भाव से बैठे, खड़े व झुके विद्यार्थियो के एक छोटे-से समूह के बीच बतियाने में तन्मय नरेन्द्र, जो अब पहले से बड़ा हो गया है-)

विनय : और जो कहीं---- भूत आ जाता---- नरेन्द्र---- और तुम्हें पकड़ लेता---- या---- कच्चा चबा जाता तो---- ?

(सुनकर नरेन्द्र हँस पड़ता है।)

सुयश : (उत्सुकताभाव से) जरा भी डर नहीं लगा तुम्हें ?

नरेन्द्र : (अल्हड़ अन्दाज़ में हँसते हुए) वाह---- बलिहारी जाता हूँ---- तुम लोगों की बुद्धि पर----

विनय : सो क्यों ?

नरेन्द्र : (हँसी रोककर) अरे ! इतना भी नहीं जानते तुम ? (समझाने के भाव से) देखो---- 'भूत' का अर्थ होता है---- जो बीत गया---- यानि कि जो वर्तमान में है ही नहीं---- (रुककर) और जो---- है ही नहीं---- वो भला कैसे पकड़ सकता है---- या---- कच्चा चबा सकता है ?

(पलभर के लिए सभी विचारशील मुद्रा बनाए एक-दूसरे को निहारने लगते है।)

सुयश : (गम्भीर मुद्रा मे) बात तो तेरी---- कुछ-कुछ समझ में आती है रे नरेन्द्र । मगर----

नरेन्द्र : (परिहास भाव से) कुछ-कुछ समझते-समझते ही---- ये मगर कहाँ से आ गया बीच ही में---- (मुँह बनाकर) तुम्हारी बुद्धि को---- लपककर कच्ची चबा जाने के लिए ?

(फिर हँस पड़ता है।

साथ ही उसके कहने के अन्दाज़ पर एकाध बच्चे भी हँस देते है

(किन्तु सुयश मुँह बाए खड़ा उसे देखता भर रहता है।)

सुयश : (अविश्वास भाव से) किन्तु---- भट्टाचार्य सर तो कह रहे थे----

नरेन्द्र : (बात काटते हुए) छोड़ यार---- भट्टाचार्य सर की बात। उनके अंधविश्वासों की भी---- कोई सीमा है ? (मुँह बनाकर) जिस स्थान पर जाना हो---- पहला पाँव बायाँ ही पड़ना चाहिए----।

निमग्न : इस चक्कर में ही तो---- परसों स्कूल आते समय---- उनका गणित गड़बड़ा गया था---- और---- (रुककर) जाने कितने कदम पीछे लौटकर बाएँ पाँव के प्रथम स्पर्श के साथ---- जब उन्होंने स्कूल में प्रवेश किया तो---- प्रेयर शुरू हो चुकी थी----

विनय : (सहास्य) हाँ---- और लेट हो जाने के कारण विद्यासागर सर ने जब उन्हें घूरा---- तो उनकी हालत---- (मुँह बनाकर) बाबा रे---- बाबा---- देखते ही बनती थी----

(विनय के साथ-साथ पास खड़े अन्य तीन-चार विद्यार्थियो को भी स्थिति की कल्पना कर हँसी छूट जाती है।)

नरेन्द्र : (परिहास भाव से) जो उस वक्त---- भट्टाचार्य सर के हाथों में उनका प्रिय डण्डा होता तो---- यूँ समझो---- उस दुष्ट पाँव की तो शामत ही आ जाती।

(सम्मिलित हँसी की हिलोर फिर उठती है।)

सुयश : (होठों पर तर्जनी लगाकर मुँह बनाते हुए) शीऽऽऽ---- (इधर-उधर देखकर धीमी आवाज में) धीरे बोल---- कहीं भट्टाचार्य सर ने सुन लिया तो---- उस दुष्ट पाँव से पहले तेरी ही शामत आ जाएगी, बच्चू !

नरेन्द्र : (निर्भीक स्वर में) क्यों रे ? भट्टाचार्य सर का डण्डा---- क्या झरबेरी के गाछवाले भूत से---- ज्यादा डरावना लगता है तुझे सुयश ?

सुयश : मैं तुम्हारी तरह ब्रह्म समाजी तो हूँ नहीं भाई---- जो भूत से न डरूँ।

नरेन्द्र : तुम्हें ब्रह्म समाज से ऐसी चिढ़ क्यों है, सुयश ? जब देखो तब----

सुयश : (मुँह बनाकर) सो क्यों न होगी भला ? (एक हाथ कमर पर टिकाते हुए) ब्रह्म समाजियों के पास---- विरोध के अतिरिक्त---- और है ही क्या ?

नरेन्द्र : (सावेश) गलत---- एकदम गलत----

सुयश : देखो---- हो गया न विरोध शुरू ?

नरेन्द्र : (अपने को संयत करते हुए) मेरा मतलब यह नहीं था, सुयश !

(पलभर को चुप्पी छा जाती है।
दोनो मे से कोई कुछ नही बोल पाता।
अन्य साथी भी मूक दर्शक की भाँति मात्र उन्हे देखते रहते है।)

(सुयश के कंधे पर हाथ रखकर) सोचो---- ब्रह्मसमाज को समझे बिना---- उसके लिए तुरन्त कोई धारणा बना लेना---- क्या उचित है ? (रुककर) कोई भी 'पंथ' अथवा 'विचारधारा' कोरे 'विरोध' के सहारे आगे नही बढ़ सकती---- और न समाज के लिए उपयोगी ही सिद्ध हो सकती

है। किन्तु, केवल इसी आधार पर 'विरोध' की उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता----

सुयश : (सविस्मय) 'विरोध' की उपयोगिता ? तुम्हें 'विरोध' में भी 'उपयोगिता' नज़र आती है, नरेन्द्र ?

(ठहाका लगाकर हँस पड़ता है।)

नरेन्द्र : हाँ--- (मुँह बनाकर) जैसे तुम्हें मेरे इस गम्भीर तर्क में 'हास्य' नज़र आ रहा है---

(सुयश की हँसी एक झटके से रुक जाती है।)

सुयश : (चेहरे पर गम्भीरता ओढ़ते हुए) चलो---- हास्य छोड़कर गम्भीर हो जाते हैं। (मुँह बनाकर) अब कहो---- 'गति' को रोकने वाले 'विरोध' में--- भला क्या 'उपयोगिता' हो सकती है ?

नरेन्द्र : क्यों नहीं ? (रुककर) असत्य, अनुचित और अन्याय को रोकने वाला 'विरोध' क्या तुम्हारी दृष्टि में---- 'उपयोगी' नहीं होता ?

(सुयश को तत्काल इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं सूझ पड़ता।)

ऐसा 'विरोध'---- हर धर्म में मिलेगा----

(सुयश 'वैचारिक ऊहापोह' वाली मुद्रा बनाए नरेन्द्र को निहारने लगता है।)

(सुयश का कंधा पकड़कर) अब---- मद्य, मांस, तम्बाकू जैसे व्यसनों की बात ही लो---- क्या इसका विरोध केवल ब्रह्मसमाज ने ही किया है ? मूर्तिपूजा एवं आडम्बरों का विरोध करने वाले कबीर को क्या तुम--- ब्रह्मसमाजी कहोगे ? कहो तो---- ऊँच-नीच और छुआछूत की भर्त्सना--- किस धर्म अथवा पंथ ने नहीं की ?

(सुयश की तनी निगाहें शिथिल भाव से नीचे झुकने लगती है।)

निमग्न : तब तो---- धर्म सब---- एक ही हुए ? क्यों नरेन्द्र ?

नरेन्द्र : (सोल्लास) वाह निमग्न ! वाह----

(निमग्न की पीठ ठोकने लगता है। निमग्न चौंककर नरेन्द्र को घूरता है।)

कितना जल्दी निचोड़ निकाल लिया तुमने हमारी बातों का ?

सुयश : (जिज्ञासा भाव से) किन्तु नरेन्द्र---- जब धर्म सब एक हैं---- तो फि नामों की भिन्नता क्यों ?

नरेन्द्र : पहचान के लिए, मित्र ! (समझाने के स्वर में) ज़रा सोचो---- हम स 'मनुष्य' हैं---- फिर भी मैं नरेन्द्र---- तुम सुयश---- (अन्य साथियों क ओर संकेत करते हुए) ये निमग्न---- ये विनय क्यों ? क्यों मे बाबा---- बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त कहलाते हैं---- और क्यों हम विद्यासाग सर को विद्यासागर सर--- व भट्टाचार्य सर को भट्टाचार्य सर कहते हैं ? 'विविधता' और 'भिन्नता' के बीच 'पहचान' को सुनिश्चित करने के लिए ही तो न ?

निमग्न : फिर तो यह 'भिन्नता' हमें 'बाँटनेवाली' हुई।

नरेन्द्र : नहीं---- क्योंकि यह बाँटना---- हमें 'एकरूपता' से 'बहुरूपता' की ओर ले जाता है, जो 'विस्तार' अथवा 'विकास' के लिए आवश्यक है। (रुककर) इतिहास उठाकर देखो---- तो पाओगे कि---- विकास की गति सदैव 'एकरूपता' से 'बहुरूपता' की ओर ही रही है। एक 'भावात्मक अन्तर्धारा' बहुरूपीय स्थिति में भी---- उसे परस्पर जोड़े रहती है---- बिखरने नहीं देती।

सुयश : सो कैसे भला ?

नरेन्द्र : जैसे बारीक 'धागा' रंगरंग के 'फूलों' की भिन्नता को बनाये रखते हुए भी उन्हें 'माला' रूप में परस्पर अनुस्यूत किये रहता है---- अथवा 'हाथ' से जुड़ी 'सगुम्फ अंगुलियाँ'---- अथवा एक ही 'परिवार' में रहने वाले भिन्न-भिन्न रूप-आकार एवं प्रकृति वाले सदस्य।

निमग्न : मिथ्या जगत के ये सत्य---- सर्वकालिक और सर्वदेशीय कैसे हो सकते हैं, नरेन्द्र ? (रुककर) 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाली उक्ति नहीं सुनी तूने ?

(प्रश्नात्मक दृष्टि नरेन्द्र के मुख पर गड़ा देता है।)

नरेन्द्र : अपवाद कहाँ नहीं होते, मित्र ? अब हमें ही लो---- (रुककर) भिन्नता हमारे यहाँ भी है---- (निमग्न के कंधे पर हाथ रखते हुए) मेरी माँ---- निष्ठावान वैष्णवी---- मगर पीशी बुआ---- (मुँह बनाकर) बाप रे !---- एकदम कट्टर सनातनी---- त्यौरियाँ हर वक्त तनी हुई---- (नाटकीय मुद्रा में) बिना स्नान-ध्यान कोई चौके में घुस नहीं सकता---- बाएँ हाथ में पात्र पकडकर जल पीना वर्जित। (लम्बी साँस लेकर) किसकी मजाल---- जो छींक अथवा बिल्ली के रास्ता काट देने के बाद कहीं चला जाए---- या कुछ काम कर ले ? (रुककर) मगर बाबा---- एकदम उदार---- गीता भी पढ़ते हैं--- और बाइबिल कुरान भी। इस सबके बावजूद भी परिवार के स्तर पर हम सब एक हैं।

निमग्न : मगर---- कल तो तुम कह रहे थे---- कि तुम्हारे बाबा की विधवा चाची ने तुम लोगों को पैतृक घर से बेदखली का नोटिस दे दिया है---- और तुम्हारे बाबा----

सुयश : (बीच ही में) 'परिवार' की बात 'अदालत' तक चली गई---- इस 'भिन्नता' में कौनसा 'विकास' दीख रहा है तुम्हें नरेन्द्र ?

विनय : (वातावरण में बोझिल हुई जा रही गम्भीरता को कम करते हुए) जो इस प्रकार हर समय शास्त्रार्थ में ही उलझे रहोगे तो---- (परिहास भाव से सभी के चेहरों पर दृष्टि घुमाकर) जल्दी ही बूढ़े हो जाओगे तुम लोग----

(ठहाका लगाकर हँस पड़ता है।

ठीक इसी क्षण छुट्टी की घण्टी बज उठती है। कक्षा में जुटी भीड़ बिखरने लगती है।)

अंक : एक
दृश्य : पाँच

स्थान : कक्षा का भीतरी भाग

समय : दोपहर

(अंग्रेजी के अध्यापक मिस्टर हेस्टी तथा नरेन्द्र के बीच चल रही जोरदार बहस के कारण कक्षा का गरमाया वातावरण तथा भिन्न-भिन्न मुद्राओं में बैठकर यह सब देखने-सुनने में तन्मय सुयश, विनय निमग्न व अन्य विद्यार्थीगण।)

मिस्टर हेस्टी : (नाक पर सरक आया चश्मा अगुली से ऊपर सरकाते हुए) तो--- तुम्हारे विचार में--- अंग्रेजी पढनी ही नहीं चाहिए--- क्यों नरेन्द्र ?

नरेन्द्र : जी नहीं, सर ! (रुककर) मगर--- उस ढंग से नहीं--- जिस ढंग से--- आप उसे पढ़ाना चाहते हैं।

मिस्टर हेस्टी : (मुँह बनाकर) ओऽऽ--- (नरेन्द्र की ओर आँखें तरेरकर) यू मीन--- पढ़ाने का ढंग--- अब हमें--- (सव्यंग्य) तुमसे सीखना होगा ? (हल्के क्रोध के साथ) क्यों ?

नरेन्द्र : (शान्त भाव से) मेरा आशय--- ये नहीं था, सर !

मिस्टर हेस्टी : आशय तुम्हारा--- कुछ भी रहा हो--- मुझे उसकी परवाह नही--- (रुककर) मगर--- इतना समझ लो--- कि--- अगर कुछ बनना है--- आगे बढ़ना है--- तो अंग्रेजी पढ़नी ही होगी---

नरेन्द्र : (आवेश में सगर्व) हम क्या अपनी भाषा के मामले में कंगाल हैं--- जो हमें एक विदेशी भाषा पढ़नी होगी ?

मिस्टर हेस्टी : भूलते हो--- ये तुम्हारे अपने ही देश के शासकों की भाषा है--- (रुककर) ये विदेशी कैसे हुई ?

नरेन्द्र : जब शासक ही विदेशी हैं, सर ! (रुककर) तो उसकी भाषा इस देश की--- कैसे मानी जा सकती है ? (सावेश) और फिर--- किसने बनाए

उन्हें--- (मुँह बिगाड़कर) इस देश का शासक ?

(सुनते ही हेस्टी बुरी तरह तिलमिला उठता है।)

मिस्टर हेस्टी : (सक्रोध) क्या बकते हो ? (अपनी जलती दृष्टि नरेन्द्र के चेहरे पर बिखेरते हुए) तुम्हारी बातों से---- हुकूमत के खिलाफ---- बगावत की गंध आ रही है, मिस्टर नरेन्द्र ।

नरेन्द्र : (कठोर अन्दाज़ में) और मुझे---- आपकी बातों में---- राजनीति की दुर्गन्ध महसूस हो रही है---- (सव्यंग्य) माननीय शिक्षक महोदय ।

मिस्टर हेस्टी : (चिल्लाते हुए) नरेन्द्र !

(बौखलाकर उठ खड़ा होता है।)

नरेन्द्र : (निर्भीक स्वर में) चिल्लाकर सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता, सर ।

--- (पलभर के लिए कक्षा में एकदम सन्नाटा छा जाता है।)

(सगर्व) अपने देश की--- अपनी मिट्टी की---- अपनी गौरवशाली परम्पराओं की बात कहना----- उस पर गर्व करना----- बगावत नहीं है, सर।

(नरेन्द्र की बातों का मर्म समझते हुए हेस्टी कुछ क्षण के लिए हतप्रभ बना रहता है।

कक्षा में बैठे छात्र मंत्रबिद्ध-से कभी अपने अंग्रेजी के अध्यापक हेस्टी को देखते है तो कभी नरेन्द्र का मुँह निहारते लगते है।)

(स्थिति को सहज करने का प्रयास करते हुए संयतभाव से) मैं यह नहीं कहता---- कि---- अंग्रेजी या कोई भी अन्य भाषा सीखनी ही नहीं चाहिए। (रुककर) मेरा मानना तो यह है कि---- पहले हम अपनी भाषा में दक्षता प्राप्त करें---- फिर आगे बढ़ें---- यानि कि---- हम आकाश में कहीं भी झाँकें---- किन्तु पाँवों के नीचे की धरती अपनी ही होनी चाहिए----। सच तो यह है कि अपने ही देश में उपलब्ध ज्ञान को आत्मसात् किए बिना विदेशी ज्ञान को पाने के प्रयास में हमारी ही हानि है। (क्षणभर साँस लेकर) अपनी जड़ें जमाए बिना---- कोई भी पौधा---- न फूल खिला सकता है---- न फल दे सकता है----

मिस्टर हेस्टी : (आहत अभिमान भरे स्वर में) तो इसका मतलब है---- तुम अंग्रेजी नहीं पढ़ोगे ?

नरेन्द्र : (निर्भीक भाव से) मैं ही क्या---- (आसपास बैठे साथियों पर दृष्टिपात करते हुए) यहाँ कोई भी आपकी अंग्रेजी को नहीं पढ़ेगा---- इस रूप में।

मिस्टर हेस्टी : (तिलमिलाए भाव से मेज पर रखी बेत उठाते हुए) खामोश---- (सब विद्यार्थियों पर दृष्टि घुमाते हुए) यहाँ क्या पढ़ाया जाएगा---- कैसे पढ़ाया

जाएगा---- इसका फैसला हमारी मर्जी से होगा---- तुम लोगों से पूछकर नहीं। (हाथ की बेंत को हवा में लहराते हुए) एक बात कान खोलकर सुन लो---- (एक-एक शब्द पर बल देते हुए) अंग्रेजी यहाँ पढ़ाई जाएगी---- और तुम सबको---- उसे पढ़ना पड़ेगा---- (कक्षा में घूरते हुए सक्रोध) अण्डरस्टैण्ड ?

नरेन्द्र : नो---- (सावेश) केपीटल नो---- सर !

मिस्टर हेस्टी : व्हाट ? (बौखलाए स्वर मे) अपने टीचर को डिसओबे करते हो ? तुम्हारी ये मज़ाल---- ? ?

(हाथ में बेंत उठाए हेस्टी नरेन्द्र की ओर लपकता है तथा उस पर ताबड़-तोड़ बेंत बरसाने लगता है। कुछ क्षण नरेन्द्र चुपचाप बेंतों की मार को अपने शरीर पर झेलता रहता है, पर जब बात बर्दाश्त से बाहर होने लगती है तो अपनी मजबूत मुट्ठी में हेस्टी की कलाई को कसकर जहाँ का तहाँ रोक देता है।)

नरेन्द्र : (अपनी आग बरसाती निगाहों को हेस्टी की बौखलाई निगाहों में डालते हुए) अब और हाथ न चलाइए, सर ! (दाँत पीसकर) वरना---

(ठीक इसी क्षण इन्स्टीट्यूट के प्रिंसिपल ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दरवाजे की आड़ से निकलकर कक्षा में तेजी से प्रवेश करते है-)

विद्यासागर : (ताड़ना भाव से) ये क्या हो रहा है, नरेन्द्र ?

नरेन्द्र : (सहमे स्वर में) सर !

(हेस्टी की कलाई छोड़ विनम्रभाव से कुछ पीछे हट जाता है।)

क्या हमें अब यहाँ अंग्रेजी को----

विद्यासागर : (निषेधभाव से हाथ उठाते हुए) मैंने सारी बातें सुन ली हैं---- (खिसियाए भाव से खड़े हेस्टी की ओर देखकर) मिस्टर हेस्टी ! प्लीज---- अपनी क्लास कन्टीन्यू रखिए---- (नरेन्द्र का कंधा पकड़ते हुए) तुम आओ---- मेरे साथ----

(हेस्टी पलटकर अपने बैठने के स्थान की ओर बढ़ता है तथा नरेन्द्र को अपने साथ लिए विद्यासागर कक्षा से बाहर बरामदे से होते हुए अपने कमरे की ओर चल देते है।)

(आत्मीयभाव से) अपने देश की गुरु-शिष्य-परम्परा के आदर्श को भी भूल गए तुम, नरेन्द्र ?

नरेन्द्र : (साथ-साथ चलते हुए) नहीं, सर ! वह तो हमारी---- शिक्षा-व्यवस्था की आत्मा है---- उसे कैसे भूल जाऊँगा मैं ?

विद्यासागर : तो फिर विचारों की भिन्नता को 'व्यक्तिगत' बनाकर तुम्हें मिस्टर हेस्टी से

इस तरह का व्यवहार नहीं करना चाहिए था-

नरेन्द्र : लेकिन सर----

विद्यासागर : (बात काटते हुए) वे भले ही विदेशी हों---- विदेशी भाषा व संस्कृति के मानने वाले हों---- पर आखिर तो तुम्हारे गुरु ही हैं न ?

(आत्मीय मुस्कान के साथ प्रश्नभरी दृष्टि से अपने साथ धीरे-धीरे चल रहे नरेन्द्र को निहारने लगते है।)

नरेन्द्र : सो मैं---- मानता हूँ, सर ! पर यदि 'गुरु' में 'गुरुत्व' ही न हो---- तो क्या किया जाए ? (पलभर साँस लेने के उपरान्त) मिस्टर हेस्टी में 'गुरुत्व' कम---- अपने अंग्रेज होने---- शासक जाति का होने का अभिमान अधिक है। इसीलिए वे---- शिक्षा के क्षेत्र में भी हमें गुलाम बनाकर रखना चाहते हैं।

विद्यासागर : तुम्हारा---- यह विचार तो सही है, नरेन्द्र !---- कि---- 'गुरु' में 'गुरुत्व' होना चाहिए---- पर---- (चलते-चलते फूलों की एक क्यारी के पास रुककर) 'गुरुत्व' का मूल्यांकन---- क्या जाति, धर्म, देश अथवा शासक-शासित की दृष्टि से करना उचित होगा ?

(नरेन्द्र निरुत्तर भाव से दृष्टि झुका लेता है।)

'गुरुत्व' पर किसी का भी एकाधिकार नहीं होता, बेटे ! 'गुरु' कोई भी हो सकता है। इसके लिए तो---- पढ़ा-लिखा होना भी आवश्यक नहीं है। (भावुक स्वर में) जो 'सच्चा ज्ञान' दे---- वही 'गुरु' है। जो ऐसा न होता---- तो एक अति साधारण बहेलिया---- क्या वाल्मीकि के भटके हुए 'कवि' को उसकी सही दिशा इतने सहज भाव से दे पाता---- और तब क्या---- अमर काव्य रामायण की रचना सम्भव हो पाती ?

नरेन्द्र : आप ठीक कहते हैं, सर ! (रुककर) ज्ञान तो---- सहज मन से ग्रहण करने का विषय है---- आँख मूँदकर---- चुपचाप स्वीकार लेने का नहीं---- (भावावेश में) कोई पूछे मिस्टर हेस्टी से---- कि वे---- कक्षा में 'शासक' बनकर आते हैं---- या 'शिक्षक' ?

विद्यासागर : 'शिक्षक' को तो 'शासक' बनकर ही कक्षा में आना पड़ता है, नरेन्द्र !

(विद्यासागर के कथन का मर्म न समझ पाने के कारण नरेन्द्र सहसा चौंककर उन्हें प्रश्नात्मक भाव से निहारने लगता है।)

(मुस्कराते हुए) चौंको नहीं---- 'शासक' से मेरा मतलब---- अंग्रेजों की तरह जोर-जबर्दस्ती और अत्याचार दमन-नीति से शासन करने वाले लोगों से नहीं है, बल्कि 'अनुशासक' से है---- यानि कि जो समझाकर---- सिखाकर किसी को अपने अनुसार सोचने-चलने को प्रभावी ढंग से प्रेरित करे। (समझाने के अन्दाज़ में) 'अनुशासन' अपने आप में एक 'शिक्षा' है---- जीवन के सर्वांगीण विकास व सफलता का एकमात्र मू..

जिसके बिना 'शिक्षा' अधूरी है।

नरेन्द्र : जी, सर !

विद्यासागर : इसीलिए कहता हूँ--- ज्ञानवर्द्धन के लिए अन्य भाषाएँ भी पढ़ना कोई बुरी बात नहीं है---- और यों भी---- सहिष्णुता और उदारता हमारी सांस्कृतिक विरासत है।

नरेन्द्र : पर---- क्या अपनी अस्मिता खोकर भी हमारा उदार व सहिष्णु बना रहना---- आवश्यक है, सर ?

विद्यासागर : नहीं, नरेन्द्र ! इस सीमा तक तो---- कोई भी स्वाभिमानी व राष्ट्रवादी कभी नहीं जाना चाहेगा।

(सुनते ही नरेन्द्र की आँखों में एक चमक-सी कौंध उठती है।)

नरेन्द्र : (चौंककर) सर !

(अविश्वासभरी दृष्टि एक झटके के साथ उठकर विद्यासागर के धीर-गम्भीर मुख पर टिक जाती है।)

विद्यासागर : (नरेन्द्र की दृष्टि से दृष्टि मिलाते हुए) हाँ----

(कोमलभाव से नरेन्द्र के कंधे पर अपना हाथ टिका देते हैं।)

'आदर्श' एक सीमा तक ही व्यवहार्य होते हैं, बेटे। (रुककर) 'उदारता' और 'सहिष्णुता' भी तभी तक हमारे लिए माह्य है, जब तक कि वह हमारे 'स्व' और 'आत्मसम्मान' को आहत करने वाली स्थिति न बनने लगे----

(कुछ पल की चुप्पी में नरेन्द्र के होंठ कुछ कहने को बुदबुदाते है, पर इससे पूर्व ही विद्यासागर बोल उठते है-)

किन्तु, इसका अर्थ यह भी नहीं----, कि हम 'मर्यादा' और 'सन्तुलन' को ही भुला बैठें----

नरेन्द्र : (सोत्साह) जब ये अंग्रेज हमें गुलाम समझते हैं---- तो फिर हम क्यों उन पर अपनी भाषा की निर्भरता रखें, सर ?

विद्यासागर : इस आयु में भी 'स्वदेश' और 'स्वाभिमान' के विषय में तुम्हारे विचार---- बहुत गुरु-गम्भीर हैं, बेटे। (प्रसन्न भाव से नरेन्द्र के कंधे पर हाथ रखकर) तुम निश्चय ही एक दिन---- अपनी असाधारणता को प्रमाणित करते हुए---- देश का मस्तक ऊँचा करोगे----

(नरेन्द्र भावमग्न हो विनय-मुद्रा में दृष्टि झुका लेता है।)

□

अंक : एक

दृश्य : छह

स्थान : बैरिस्टर दत्त के निवास का भीतरी भाग

समय : प्रातःकाल

(अपने कमरे में खिड़की के पास बैठकर सितार के तारो पर अपनी अंगुलियों को साधने का सफल-विफल प्रयास करने मे लगा नरेन्द्र।

दृष्टि बीच-बीच मे कभी खिड़की के बाहर का परिदृश्य निहार लेती तो कभी लौटकर फिर से कमरे के भीतर के वातावरण और सितार के तारो की झकृति मे डूबने लगती। पर कुछ ही क्षणों में जाने क्या हो जाता है कि मन फिर से अस्थिर हो उठता और दृष्टि पुन. बाहर भटकने लगती उसकी।

अपने आप से घिरे नरेन्द्र को इस बात का जरा भी आभास नही हो पाया कि पीशी बूआ हाथ की छड़ी को जमीन पर टिकाए दरवाजे पर खड़ी अपनी अनुभवी दृष्टि से चुपचाप उसे पढ़ने की चेष्टा कर रही है। पीशी बूआ अधिक समय चुपचाप नही रह सकी-)

पीशी बूआ : (ताड़ना भाव से) तीन दिन परीक्षा के रह गए---- और तू यहाँ सितार के पीछे पड़ा है रे नरेन्द्र ?

(अपने आप में खोया नरेन्द्र एक झटके से चौंकता हुआ तत्क्षण अपने मनोद्वन्द्व को अपने ही भीतर धकेल संयत हो जाता है।)

नरेन्द्र : (शरारत भरी मुस्कान के साथ) मैं सितार के पीछे पड़ा हूँ---- ये तुमसे किसने कह दिया, पीशी बूआ ?

(छड़ी टिकाती हुई तथा मोटे चश्मे में से आँखें फैलाकर ठीक से देखने का प्रयास करती पीशी बूआ भीतर आ जाती है नरेन्द्र के एकदम पास-)

पीशी बूआ : (ठीक से देखने का सफल-विफल प्रयास करती हुई) कहेगा कौन— देख जो रही हूँ—

नरेन्द्र : (मुँह बनाकर) ओऽऽ---- पीशी बूआ ! अब जब देख ही रही हो— तो जरा ध्यान से देखो---- मैं सितार के पीछे पड़ा हूँ---- या ये सितार ही मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ा है।

पीशी बूआ : (एक हाथ कमर पर टिकाकर) क्या मतलब रे ?

नरेन्द्र : (नाटकीय अन्दाज़ में) अब देखो न---- मैंने तो सितार को सिर्फ धूल झाड़ने को ही छुआ था---- मगर मौका पाकर इस सितार ने ही मेरी अंगुलियों को अपने से चिपका लिया---

('मैं सब समझती हूँ' के अन्दाज़ में पीशी बूआ अपनी गर्दन हिलाती है।)

(सफाई देता हुआ) सच पीशी बूआ---- अंगुलियाँ ऐसी चिपकी--- ऐसी चिपकीं---- कि बस---- छूटने का नाम ही नहीं ले रही (कृत्रिम भोलेपन के साथ) तुम्हीं बताओ---- मैं अब क्या करूँ ? (मुँह बनाकर) विवशता में सितार बजाना पड़ रहा है----

(नरेन्द्र के नाटकीय अन्दाज़ से पीशी बूआ के होठों पर बरबस एक मीठी मुस्कान खिंच जाती है।)

पीशी बूआ : (छड़ी उठाकर) शैतान कहीं के ! मुझे समझाता है ?

(कुछ झुककर दूसरे हाथ से नरेन्द्र का कान पकड़ लेती है।)

(मीठी ताड़ना के साथ) अरे ! तेरे बैरिस्टर बाप को गोदी में खिला चुकी हूँ---- और तुझे नहीं समझूँगी भला ? मगर----

(सहसा कुछ याद आ जाने से पीशी बूआ एकदम उदास हो खिड़की से बाहर का शून्य निहारने लगती है।

नरेन्द्र के कानो पर अंगुलियों की पकड़ ढीली हो जाती है तथा हवा में उठी छड़ी भी निढालभाव से ढुलकती हुई पुनः जमीन पर जा टिकती है।

नरेन्द्र चौंककर निगाहे उठा पीशी बूआ के उदास-गम्भीर चेहरे और अतीत में खोई बूढ़ी दृष्टि को निहारने लगता है।)

नरेन्द्र : (साश्चर्य) पीशी बूआ ?

(अतीत में खोई पीशी बूआ बोली नहीं कुछ।)

(झकझोरते हुए) पीशी बूआ----

पीशी बूआ : (चौंककर जागती हुई-सी) हाँ----

नरेन्द्र : क्या बात है ? तुम अचानक---- चुप क्यों हो गई ? और चेहरे पर ये उदासी ?

पीशी बूआ : (नरेन्द्र को निहारती हुई बनावटी मुस्कान के साथ) कुछ भी तो नहीं रे ।
(मन के भावों को छुपाती हुई) अचानक तेरे दादा याद आ गए थे----

नरेन्द्र : (उत्सुकभाव से) तो सुनाओ न, पीशी बूआ---- दादा के जीवन का सत्य----

(अपनी गलती का बोध होते ही पीशी बूआ चौंककर दाँतों तले अपनी जीभ दबा लेती है– 'हे भगवान ! आग लगे मेरी इस जीभ को भी। ये कैसा प्रसंग छेड़ बैठी मैं ?')

(बालकों की भाँति हाथ पकड़कर मचलते स्वर में) बोलो, पीशी बूआ ।

पीशी बूआ : (आँखें तरेरकर) तुझे इससे क्या ?
(नरेन्द्र का हाथ झटक देती है।)
परीक्षा सिर पर है। बैठकर पढ़ाई कर---- मुझे घर में और भी काम हैं----

(जाने को उद्यत होती है कि नरेन्द्र फिर पीशी बूआ का हाथ पकड़ लेता है।)

नरेन्द्र : (हाथ पकड़कर) बैठ जाओ---- आज सब कुछ जानकर ही रहूँगा----

(पीशी बूआ को अपने पास तख्त पर बैठा लेता है।)

पीशी बूआ : (प्रसंग की दिशा बदलती हुई) कलकते में उनका अच्छा-खासा नाम था---- घर में लक्ष्मी चेरी बनकर रहती थी---- भरा–पूरा परिवार था----
(दोनों हाथ नचाती हुई) बस---- और क्या ?

नरेन्द्र : (मुँह बनाकर) यों मुझे---- बहला न सकोगी, पीशी बूआ !

पीशी बूआ : (झुँझलाए अन्दाज़ में घूरकर) तू क्या---- दादा का जीवन-इतिहास लिखेगा ?

नरेन्द्र : यदि जीवन-इतिहास ही लिखना होता---- तो अब तक कभी का लिख चुका होता मैं, पीशी बूआ !

पीशी बूआ : तो फिर---- खोद-खोदकर क्यों पूछ रहा है तू इतना ?

नरेन्द्र : नही पूछूँगा---- (रुककर) बस---- इतना बतला दो---- दादा संन्यासी बनकर घर से क्यों चले गए थे ?

पीशी बूआ : (गाल पर हाथ लगा विस्मयभाव से चौंकती हुई) बाप रे ! तुझे---- पता है, ये बात ?

नरेन्द्र : (विजयी मुस्कान के साथ) पता तो मुझे---- और भी बहुत है, पीशी बूआ ! पर---- (रुककर) सुनी सुनाई बातों में सत्य क्या है---- यह चाहता हूँ।

पीशी बूआ : और क्या सुना तूने ?

नरेन्द्र : सुना है---- मेरी दुखिया दादी---- अपने संन्यासी पति की खोज में कहाँ-कहाँ नहीं भटकी ? तीन वर्ष के छोटे-से बालक मेरे बाबा को लिए-लिए वह काशी तक गई। उसने काशी का एक-एक मन्दिर और घाट छान मारा। (रुककर) लोग कहते हैं---- एक बार जब वह अचेत होकर गिर पड़ी---- तो एक अनजान संन्यासी ने उसकी सेवा कर चेतना लौटाई। लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि वह अनजान संन्यासी स्वयं दादा ही थे। वास्तव में वह अनजान संन्यासी कौन था----और दादी की चेतना लौटते ही काशी की भीड़ में कहाँ खो गया---- यह रहस्य आज भी बना हुआ है।

(सारी बातें सुनकर पीशी बूआ घबरा जाती है।)

पीशी बूआ : (ऊँचे स्वर में) बहू रानी ! सुनती हो ? (एक क्षण रुककर) कहाँ हो तुम, भुवन ?

भुवनेश्वरी : (दूर से ही) जी---- आईऽऽ----

(अगले ही क्षण तेजी से कमरे में भुवनेश्वरी का प्रवेश)

क्या बात है, बूआजी ? (नरेन्द्र पर दृष्टि डालती हुई) इसने---- फिर कोई शरारत की ?

पीशी बूआ : सावधान हो जा---- बहू रानी ! तेरे इस लाडले बिलेह के पेट में---- दाढ़ी निकलने लगी है----

(सुनते ही भुवनेश्वरी को हँसी छूटने-छूटने को होती है, पर पीशी बूआ के चेहरे पर बिखरी चिन्ता व गम्भीरता को देख छूट नहीं पाती।)

भुवनेश्वरी : (सविस्मय) पेट में दाढ़ी ? (सशंक भाव से) मैं कुछ---- समझी नहीं, पीशी बूआ !

नरेन्द्र : (शरारती मुस्कान के साथ) माँ ! पीशी बूआ को भय है---- कि कहीं---- वह दाढ़ी और अधिक लम्बी होकर---- मेरे पेट से बाहर न निकल जाए---- क्योंकि----

भुवनेश्वरी : (उत्सुक स्वर में) क्योंकि ?

नरेन्द्र : (चटुल मुद्रा बनाते हुए) क्योंकि मैं---- यह भी जानता हूँ कि---- तुम आज तक भी सोमवार का व्रत नियमित रूप से क्यों करती हो ? (रुककर) प्रतिवर्ष नियम से काशी के वीरेश्वर मन्दिर में अनुष्ठान क्यों करवाती हो ? (परिहासभाव से) इसीलिए न---- कि मैं कहीं---- दादा के रास्ते न चला जाऊँ---- ? संन्यासी न बन जाऊँ ??

: (कठोर स्वर में) नरेन ?

पीशी बूआ : (स्तब्ध भाव से) तू---- भीतर से इतना गहरा है, रे ?

(नरेन्द्र चटुल भाव से हँस पड़ता है।)

नरेन्द्र : (चटुल हँसी के साथ) क्या---- अब भी नहीं बतलाओगी, पीशी बूआ---- कि दादा---- संन्यासी बनकर घर से क्यों चले गए थे ?

पीशी बूआ : (हताश और आशंकित स्वर में) कहूँगी---- सब कुछ कहूँगी---- पर पहले एक वचन देना होगा तुझे।

नरेन्द्र : कैसा वचन ?

(पीशी बूआ छड़ी के सहारे धीरे-से उठकर सावधानी पूर्वक एक-एक कदम टिकाती नरेन्द्र के पास आती है।)

बोलो, पीशी बूआ ! कैसा वचन चाहती हो तुम मुझसे ?

(एक दृष्टि भुवनेश्वरी के मुख पर डालती हुई नरेन्द्र को निहारने लगती है।)

पीशी बूआ : (ममत्व भाव से नरेन्द्र के केश सहलाती हुई) वचन दे---- तू दादा के मार्ग का अनुसरण नहीं करेगा----

(पल भर के लिए नरेन्द्र और पीशी बूआ की दृष्टियाँ एक-दूसरे पर स्थिर हो जाती हैं।)

नरेन्द्र : (गम्भीर होकर) दूँगा वचन---- पर पहले यह तो जान लूँ---- कि दादा ने अपना घर-संसार क्यों छोड़ा ?

पीशी बूआ : इस घर-ससार से---- बेचारे, तेरे दादा को---- मिला ही क्या था---- (सव्यथा) सिवाय शोक, कष्ट, विश्वासघात और तिरस्कार के ? (अतीत में डूबती हुई) पिता राममोहन दत्त के असामयिक निधन से तेरे दादा को छोटी-सी उम्र में ही अनाथ और असहाय हो जाना पड़ा। तब तेरी दादी भी छोटी ही थी। तरुण होने तक वे लोग इस दुनियादारी के हाथों जाने कितनी बार ठगे गए। पर---- इतने ही से पीछा नहीं छूटा----

(लम्बी साँस लेती हुई पीशी बूआ पलभर चुप रहती है।)

(भावुक स्वर में) इधर मैं करमजली बहिन---- विधवा हो---- इस घर में कुण्डली मारकर आ बैठी तेरे---- पहले ही से दुःखी दादा-दादी की छाती पर। इतना ही नही, 'ननद' होने के अभिमान में चूर---- मैंने---- किस-किस तरह तेरी दादी को तिरस्कृत और पीड़ित नहीं किया। बेचारे तेरे दादा---- न तो अपनी सीधी-सादी निरीह पत्नी की पीड़ा से दृष्टि फिरा सके---- और न ही---- नियति के हाथों पिटी अपनी अभागिन, किन्तु अहंकारी बहिन से कुछ कह सके।

(आहत भाव से पुन. तख्त पर बैठ जाती है।)

ऐसे में बेचारे भैया---- भीतर ही भीतर घुटते रहे---- और इसी घुटन ने

उनके मन में ससार के प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर दी और वे----

(भावावेश में सहसा कण्ठावरोध हो जाने के कारण पीशी बूआ और कुछ न कह सकी।

बूढ़ी आँखों में पीड़ा तरलायित हो उठी।

पलभर के लिए कमरे के भीतर का सब कुछ जैसे ठहर गया। गतिमान थी तो केवल तीनो की मौन साँसें।)

नरेन्द्र : तो क्या--- जीवन-सघर्षों से बचने का उपाय---- संन्यास है, पीशी बूआ ?

पीशी बूआ : (चौंककर) तू फिर---- व्यर्थ की बकवास करने लगा ?

नरेन्द्र : तुमने दादा को समझाया नहीं कभी ?

पीशी बूआ : (कठोर स्वर में) मैं अहंकारी---- जब स्वयं ही न समझी---- तो उन्हें क्या समझाती ? (रुककर) और यों भी---- दत परिवार के पुरुषों ने कभी सुनी है स्त्रियों की बात---- जो भैया सुनते ? (झुँझलाए भाव से) तू सुनता है घर में किसी की ?

नरेन्द्र : फ़िक्र न करो। जब सुनने लायक होऊंगा---- तब अवश्य सुनूँगा---- (रुककर) और फिर सब पुरुष---- क्या ऐसे ही होते हैं ?

पीशी बूआ : तो फिर वचन दे कि तू कभी दादा के मार्ग का अनुसरण नहीं करेगा----

(पास खड़े नरेन्द्र का हाथ पकड़ उसे भावमयी दृष्टि से निहारने लगती है।)

नरेन्द्र : नही करूँगा पीशी बूआ । (माँ भुवनेश्वरी की ओर देखते हुए) कभी माँ-बाबा के नाम को लजाऊँगा नहीं। (दृढ़ शब्दों में) विषमताओं और प्रतिकूलताओं से कभी हार नहीं मानूँगा----

भुवनेश्वरी : (नरेन्द्र का कधा थामकर) मुझे अपने बिलेह से यही आशा थी----।

(ममता भाव से नरेन्द्र को अपने से सटा लेती है।)

(नरेन्द्र के केश सहलाती हुई) तो अब से तू---- ब्रह्मसमाज के जल्सों और मण्डलियो में नहीं जाएगा न पुत्र ? (रुककर) और न ही---- सन्यासियों के पीछे भागेगा ?

नरेन्द्र : (चौंककर) यह तूने कैसे मान लिया, माँ---- कि मैं ब्रह्मसमाज के जल्सों और गोष्ठियों में नहीं जाऊँगा---- और सन्यासियों से नही मिलूँगा ?

भुवनेश्वरी : (तीव्र स्वर में) नरेन ?

नरेन्द्र : (समझाते हुए) देखो, माँ । अपने भीतर उद्वेलित प्रश्नों के सत्य तलाशने के लिए जहाँ भी जाना होगा---- जाऊँगा---- और मिलूँगा भी उन सबसे---- जिनसे मुझे मिलना है----

: (आहत भाव से) तो फिर उस वचन का क्या होगा---- जो तूने

अभी-अभी दिया है ?

नरेन्द्र : मैंने वचन------ केवल दादा के मार्ग का अनुसरण न करने का दिया है, माँ ! (रुककर) अपने को बाँधकर---- किसी अन्धेरे कोने में पटक देने का नहीं----

(सहसा नरेन्द्र के भीतर कुछ घुमड़ने लगता है। मुख पर कुछ ऐसे भाव उभरते हैं जिन्हें न पीशी बूआ समझ पाती है न माँ भुवनेश्वरी।)

(अपने आप से) वह 'प्रकाश' क्या---- यों ही मिल जाता है किसी को ?

पीशी बूआ : (सशंक भाव से) किस 'प्रकाश' की बात कहता है रे तू ?

नरेन्द्र : (भावमय स्वर में) वही---- जिससे ये सम्पूर्ण जड़-चेतन प्रकाशमान है---- और जो---- अनन्त अनन्त 'मरीचिकाओं' से घिरा है।

(नरेन्द्र के कथन का आशय कुछ-कुछ समझती हुई-सी भुवनेश्वरी और पीशी बूआ - दोनों ही किसी अज्ञात आशंका से काँप उठती है।)

भुवनेश्वरी : (प्रसंग की दिशा बदलने के उद्देश्य से) पहले अपनी परीक्षा तो दे ले---- बस तीन ही दिन शेष रह गए हैं।

नरेन्द्र : मुझे तो इससे भी बड़ी परीक्षा देनी है, माँ---- और उसमें उत्तीर्ण भी होना है।

(सहसा भावावेश में खिड़की के पास आ बाहर का शून्य निहारने लगता है।

भुवनेश्वरी लपककर उसे कंधे से पकड़ लेती है।)

भुवनेश्वरी : (झकझोरती हुई) बिलेह---- बिलेह----

(पर नरेन्द्र बेसुध-सा एकटक भाव से शून्य निहारता रहता है। उसकी अपलक दृष्टि को देख भुवनेश्वरी डर जाती है।)

(कातर स्वर में) बूआजी ! मेरे बिलेह को क्या हो गया ?

(पीशी बूआ घबराकर एक झटके से उठ खड़ी होती है। ठीक इसी क्षण हड़बड़ाई श्यामा का प्रवेश-)

श्यामा : बऊदी---- बऊदी----, बाबू रायपुर से लौट आए हैं----

(पर भीतर की स्थिति को देख उसके क़दम और वाणी जहाँ के तहाँ ठिठक जाते है।)

अंक : दो

दृश्य : एक

स्थान : बैरिस्टर दत्त का शयनकक्ष

समय : दोपहर

(शयनकक्ष में खिड़की के पास रखी लम्बी आरामकुर्सी पर पाँव फैलाए 'आराम' की मुद्रा में बैठकर सिगार के लम्बे-लम्बे कश खींचते, धुँए के छल्ले उगलते तथा बीच-बीच में बगल की कुर्सी पर बैठी अपनी पत्नी भुवनेश्वरी से बतियाते बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त। अभी-अभी प्रसंगवश विश्वनाथ दत्त द्वारा परिहास के अन्दाज़ में कही गई किसी बात का प्रभाव पति-पत्नी - दोनो ही के चेहरों पर स्पष्ट दीख पड़ता है।)

भुवनेश्वरी : (मुँह पर हाथ रख तिर्यक् दृष्टि से पति को निहारती हुई) बाबा रे ! तुम तो 'कानून' छोड़---- अब 'दर्शन' में भी दखल करने लगे।

विश्वनाथ : 'कानून' तो हमारे 'संसार- धर्म' के निर्वाह का साधनमात्र है, भुवन ! (चुटकी बजाकर बगल मे रखी ऐश-ट्रे में सिगार की राख को झाड़ते हुए) जबकि 'दर्शन'---- जीवन का सारतत्व----

(बात करते-करते दृष्टि सामने शून्य में गड़ाए विश्वनाथ दत्त सहसा कुछ सोचने लगते हैं।

भुवनेश्वरी पति की मुद्रा में अचानक हुए इस परिवर्तन को समझ नही पाती और कुछ क्षण निहारती रहती है।)

भुवनेश्वरी : (उत्सुक स्वर में) क्या सोचने लगे ?

विश्वनाथ : (थके भाव से) सोचता हूँ---- रायपुर वाला ऑफिस बन्द कर दूँ---- और स्थायीरूप से अब यहीं टिक जाऊँ।

भुवनेश्वरी : (चौंककर) सो क्यों ? मुंशीजी तो कह रहे थे---- तुम्हारा वहाँ का काम दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है---- और तुम----

: (बात काटकर) मुंशीजी ठीक ही कह रहे थे, भुवन ! मगर----

भुवनेश्वरी : मगर क्या ?

विश्वनाथ : मगर इतने सारे फैले काम को सम्हालेगा कौन ? (रुककर) दो नावों के सवार जैसी स्थिति हो गई है मेरी।

(सिगार के तीन-चार लम्बे-लम्बे कश लेकर धुँआ छोड़ते हुए विश्वनाथ दत्त शेष बचे टुकड़े को ऐश-ट्रे में रगड़कर छोड़ देते हैं।)

(आरामकुर्सी पर कुछ और फैलते हुए) यहाँ रहता हूँ तो---- रायपुर वाला काम चौपट होने लगता है---- और रायपुर जाता हूँ---- यहाँ पीछे काम गड़बड़ाने लगता है। (लम्बी साँस लेकर) समझ में नहीं आता---- मैं अकेला क्या-क्या करूँ ? (रुककर) तिस पर---- कुछ दिनों से तबियत भी ठीक नहीं लग रही----

भुवनेश्वरी : (चिन्तित स्वर में) क्या हुआ तबियत को ?

(पास सरककर कोमलभाव से आरामकुर्सी के हत्थे पर टिके पति के हाथ पर अपना हाथ रख देती है।)

विश्वनाथ : लगता है---- रायपुर का पानी रास नहीं आया मुझे---- (थके भाव से लम्बी साँस लेते हुए) और यों भी---- रायपुर और कलकत्ता के बीच चक्कर लगाते-लगाते---- अब थक चला हूँ मैं।

(आरामकुर्सी के सिरहाने टिके अपने सिर के नीचे क्षैतिजिक मुद्रा में दोनों हाथ फैलाकर लगाते हुए विश्वनाथ दत्त छत निहारने लगते हैं।)

भुवनेश्वरी : क्या बात है ? कोई दुविधा है मन में ?

विश्वनाथ : (अपने आप में डूबे हुए ही) बस---- यों ही---- सिर कुछ भारी है---- (रुककर) सम्भवतः यात्रा की थकान से----

भुवन : तो मैं---- तुम्हारे सिर में तेल मल देती हूँ।

(उठकर तेल की शीशी लेने बगल की आल्मारी की ओर बढ़ती है।)

विश्वनाथ : रहने दो, भुवन ! तुम भी तो पूरे दिन अपनी गृहस्थी में खटते-खटते थक जाती हो

भुवनेश्वरी : (हथेली में तेल ले पति के माथे पर मलती हुई) स्त्रियों का क्या है ? उन्हें तो अपना धर्म निभाना ही होता है।

विश्वनाथ : (चौंकी मुद्रा में सिर घुमा अपने पीछे खड़ी भुवनेश्वरी को निहारते हुए) और---- पुरुष ?

(झुकी पलकों में कोमलता और अधरों पर मीठी मुस्कान लिए भुवनेश्वरी दोनों हाथों से विश्वनाथ दत्त का अपनी ओर घूमकर उठा हुआ सिर पूर्ववत् सीधा कर पुनः तेल मलने लगती है।)

भुवनेश्वरी : (तेल मलते-मलते ही) पुरुष की बात पुरुष जाने---- (मीठी मुस्कान के साथ परिहास-मुद्रा में) हाँ---- इतना अवश्य समझ गई हूँ---- कि

पुरुष---- छुपाने की कला में बहुत पटु होते हैं।

विश्वनाथ : किन्तु---- इसके लिए तुम्हें---- अपना आरोप प्रमाणित करना होगा-- अन्यथा---- (परिहास के अन्दाज़ में मुँह बनाकर) मानहानि का दा दायर हो जाएगा----

भुवनेश्वरी : (परिहास-भाव से) आखिर---- लगे न अपनी कानूनी भाषा में बा करने ? पर ध्यान रहे---- (नाटकीय मुद्रा में) ये तुम्हारी अदालत न है---- और न ही यहाँ कोई---- 'मी लॉर्ड' है।

(दोनों एक साथ हँस पड़ते हैं।

ठीक इसी क्षण छोटी बिटिया स्वर्णमयी का प्रवेश-)

स्वर्णमयी : बाबा ! मुंशीजी बाहर---- मुवक्किलों वाले कमरे में आपका इन्तजार क रहे हैं।

भुवनेश्वरी : (तेल के चिकने हाथ पोंछती हुई) बेटे ! मुंशी जी को बोलो---- बा थके हैं---- तबियत भी ठीक नहीं है उनकी----। (पुन पास वाली कुर् पर बैठती हुई) यहीं आ जाएँ----

स्वर्णमयी : (दुपट्टे का छोर अंगुली में लपेटती हुई) जी, माँ !

(जाने को मुड़ती है।)

विश्वनाथ : क्या बात है, स्वर्ण ! आजकल बहुत गम्भीर रहने लगी है तू ?

(जाते-जाते स्वर्णमयी ठिठक जाती है।)

स्वर्णमयी : (पलटकर बाबा के पास आती हुई) परीक्षाएँ चल रही हैं न, बाबा इसीलिए----

(विश्वनाथ स्नेहभाव से स्वर्णमयी का हाथ पकड़ सहलाने लगते हैं।)

बाबा ! इस बार तो---- जल्दी नहीं लौटेंगे न आप ?

विश्वनाथ : (भावुक स्वर में) नहीं, बिटिया ! अब मैं अधिक से अधिक समय--- तुम लोगों के साथ ही बिताऊँगा-----। (रुककर) जाओ---- मुंशीजी को भेज दो----

स्वर्णमयी : जी, बाबा !

(प्रस्थान।)

(एक लम्बी साँस के साथ विश्वनाथ दत्त फिर से 'आराम' की मुद्रा में कुर्सी से पीठ टिका लेते हैं।

भुवनेश्वरी भी साड़ी का पल्लू खींच ठीक से माथा ढाँपती हुई मनस्तकर 'प्रतीक्षा' की मुद्रा में बैठ जाती है।

गम्भा खाँसने, खखारने तथा फर्श पर छड़ी की 'टक् टक्' की मिली-जुली ध्वनियों के बीच द्वार पर पीली युआ आती दीख पड़ती है।)

पीशी बूआ : (धीरे-धीरे उसी ओर आती हुई) मुंशी क्या खबर लाया, बिशू ?

(भुवनेश्वरी शालीनभाव से उठकर दूसरी कुर्सी पर जा बैठती है।)

विश्वनाथ : मुंशीजी को---- यही बुलवा लिया है, बूआ ! आते ही होंगे---- (पास वाली कुर्सी की ओर संकेत करते हुए) बैठो।

(घुटनों के दर्द से यदा-कदा कराहती व लंगड़ाती पीशी बूआ सावधानीपूर्वक पासवाली कुर्सी पर बैठ जाती है। इस बीच हाथ मे कागजो का छोटा-सा पुलिन्दा लिए मुंशी जी आ पहुँचते है।)

मुंशीजी : (हाथ जोड़कर) प्रणाम बउन्दी---- प्रणाम बाबू---- (पीशी बूआ पर दृष्टि पड़ते ही) ओऽऽ---- पीशी बूआ भी यही हैं----? (हाथ जोड़ माथा नवाते हुए) दण्डवत् करता हूँ, पीशी बूआ !

पीशी बूआ : (मुस्कान भरे बुजुर्गाना अन्दाज़ मे) खुश रहो, मुंशी ! खुश रहो---- (रुककर) कहो---- अच्छे समाचार लाए हो न ?

(मुंशीजी बिना कुछ बोले पास आ कागजों का पुलिन्दा विश्वनाथ दत्त के हाथों में थमा दूसरी कुर्सी पर बैठ जाते है।

विश्वनाथ दत्त चश्मा ठीक से सरकाकर मुशी जी के दिए कागजो को उलटने-पलटने तथा कहीं-कहीं से पढ़ने लगते हैं।

भुवनेश्वरी और पीशी बूआ बढ़ी हुई धड़कनों के बीच अपनी उत्सुक-अधीर दृष्टि कभी विश्वनाथ दत्त के हाथो में फैले कागजों पर गड़ाती है तो कभी विश्वनाथ के चेहरे पर आ-जा रहे भावो पर, किन्तु कुछ भी समझ नही पाती। इसी ऊहापोह में कई क्षण खामोशी मे गुजर जाते है।)

पीशी बूआ : (अधीर होती हुई) क्या हुआ, बिशू ? क्या लिखा है इन कागजों में ?

(विश्वनाथ कोई उत्तर नही देते।

दृष्टि अभी भी कागजो में भटक रही थी।)

भुवनेश्वरी : (आशंकित भाव से) चुप क्यों हो ? कुछ कहो न।

विश्वनाथ : (लम्बी साँस लेकर) काकी के इस दावे को---- अदालत ने मान लिया है कि---- यह भवन वास्तव में उनके पति का है---- और हम लोग इस पर गैर-कानूनी कब्जा किए बैठे हैं।

भुवनेश्वरी : (स्तब्ध भाव से) क्या ?

पीशी बूआ : (सावेश) हे भगवान ! इससे बडा झूठ---- संसार मे और क्या हो सकता है ?

(पलभर के लिए सब स्तब्ध-से बैठे रहते हैं।

कोई कुछ नही बोल पाता।)

(भावावेग मे बहती हुई) लगता है---- छोटी बउन्दी---- जीवित हाथी ही निगल जाना चाहती है।

भुवनेश्वरी : (भीतर ही भीतर टूटती हुई-सी) अब क्या होगा ?

विश्वनाथ : लगता है---- एक बार तो हमें यह घर छोड़ना ही होगा। (रुककर) और यों भी मन की सुख-शान्ति के लिए मैं इसे जरूरी भी समझता हूँ।

भुवनेश्वरी : (अधीर आवेश के साथ) तो क्या---- इतनी आसानी से अपने पूर्वजों का घर---- यों ही छोड़ दोगे ?

विश्वनाथ : तुम लोग फिक्र न करो---- हम आगे ऊँची अदालत में जाएँगे---- हक़ नहीं छोड़ेंगे। (समझाते हुए) पर सोचो---- जब तक हमें हमारा जायज़ हक़ नहीं मिल जाता---- तब तक इस प्रकार अशान्ति और दुर्भावनाओं से भरे माहौल में अपने को झौंके रहने से लाभ क्या होगा ?

(भुवनेश्वरी और पीशी बूआ कुछ नहीं बोल पातीं।)

मुंशी जी !

मुंशीजी : (हाथ जोड़कर उठते हुए) जी, बाबू !

विश्वनाथ : (कागज आगे बढ़ाते हुए) ये सभी कागज राखाल को सौंप दीजिए---- आगे की कार्यवाही के लिए----

मुशीजी : (कागज लेकर) जी, बाबू ! चलता हूँ---- (हाथ जोड़कर) प्रणाम।

(कागज समेटते हुए उदास मन और भारी क़दमों से मुंशी जी चल देते है।

उनके जाते ही पीशी बूआ भी तमककर उठ खड़ी होती है।)

पीशी बूआ : (सावेश) मैं अभी जाती हूँ छोटी बऊदी के पास---- और पूछती हूँ---- दत्त वश के मान-सम्मान को अदालत के कटघरे में इस तरह खड़ा करने की हिम्मत कैसे हुई उनकी ?

विश्वनाथ : कोई लाभ नही होगा इससे बूआ ! उल्टे जली-कटी सुनने-सुनाने के चक्कर में---- कटुता और बढ़ जायेगी।

पीशी बूआ : (उत्तेजित स्वर में) तो क्या हम---- अन्याय का प्रतिकार भी न करें ?

विश्वनाथ : प्रतिकार---- समझाने-बुझाने अथवा प्रार्थनाएँ करने से नही होता, बूआ ! (समझाते हुए) तुम फिक्र न करो---- हम आगे अपील करेंगे। यों भी अदालत की लडाई को अदालत में ही लड़ना ठीक रहेगा----

पीशी बूआ : तू रख अपनी अदालत---- अपने ही पास----

(भावावेश में पीशी बूआ के भीतर उफन रही आत्मव्यथा चेहरे और शब्दों में फूट पड़ती है।)

मुझ करमज़ली के मनहूस साये तले---- दत्त वंश ने जाने कितनी ही अनहोनियों को झेला है----

(कहते-कहते पीशी बूआ की वाणी नम हो जाती है तथा कण्ठावरोध के साथ आँखें भी तरलायित हो उठती हैं।)

विश्वनाथ : कैसी बातें करती हो, बूआ ? (भावुक स्वर में) बुजुर्गों का साया---- कभी मनहूस नही होता। वह तो आशीर्वादों की शीतल-सुखद छाया होती है---- जिसके तले जीवन की बगिया दिन-रात महकती रहती है।

भुवनेश्वरी : (पीशी बूआ के पास आ उनका कंधा पकड़कर) हम आपको वहाँ---- अपमानित होने नहीं जाने देंगे, बूआ !

पीशी बूआ : बात मेरे अपमान की नहीं---- समूचे दत्तवंश के अपमान की है, भुवन ! (सव्यथा) क्या दत्तवश के अपमान से मेरा अपमान बड़ा है ?

(भुवनेश्वरी के पास इस तर्क का कोई उत्तर न था। वह दृष्टि झुका लेती है।)

मैं अब और चुप नहीं रह सकती, बिटिया ! (सावेश) मुझे एक बार जाना ही होगा वहाँ----

विश्वनाथ : मान जाओ, बूआ !

(किन्तु, पीशी बूआ रुकती नही।

विश्वनाथ दत्त और भुवनेश्वरी उन्हें जाते हुए चुपचाप देखते रहने के अलावा कुछ नही कर पाते।

कुछ क्षण चिन्ताबोझिल चुप्पी मे निकल जाते है।)

भुवनेश्वरी : (चिन्तित स्वर मे) फिर हम लोग रहेंगे कहाँ ?

विश्वनाथ : यह भी कोई पूछने की बात है ?

(स्थिति की गम्भीरता को हल्का करने के उद्देश्य से हँस देते है।)

(कृत्रिम सहजता के भाव से) एक अच्छा-सा घर किराए पर ले लेंगे---- और क्या ?

भुवनेश्वरी : (सव्यथा) कितनी अजीब बात है---- अपना घर होते हुए भी हमें---- किराए के घर में रहना पड़ेगा----

विश्वनाथ : (फीकी मुस्कान के साथ) पहले घर---- 'अपना' तो सिद्ध हो।

भुवनेश्वरी : इस घर के---- हम लोग भी तो समानरूप से उत्तराधिकारी हैं ? (रुककर) ससुरजी बड़े थे और काका छोटे---- तिस पर आपने अपनी कितनी कमाई खर्च की है---- इस भवन और परिवार पर---- यह क्या किसी से छुपा है ? (सावेश) क्या केवल किसी के कह देने भर से यह घर उनका हो जाएगा ?

विश्वनाथ : मात्र कह देने भर की ही बात नहीं है, भाई ! उन्होंने अदालत में इसे सिद्ध किया है तभी तो----

भुवनेश्वरी : (तमककर) क्या कहकर सिद्ध किया है ?

विश्वनाथ : उनका कहना है कि दुर्गादास दत्त यानि कि मेरे पिता---- यानि कि तुम्हारे ससुर ने---- संन्यास ग्रहण करते समय अपने सारे पैतृक अधिकार

के पक्ष में त्याग दिए थे।

(सुनकर भुवनेश्वरी के मुँह से व्यथा भरी निःश्वास निकल जाती है।)

भुवनेश्वरी : पाण्डु का राज्य हड़पने के लिए---- धृतराष्ट्र ने भी ऐसे ही तर्क दिए थे।

विश्वनाथ : इसीलिए तो---- महाभारत हुआ----

भुवनेश्वरी : इन लोगों ने भी तो 'भूमिका'---- महाभारत की ही बना डाली है---- किन्तु----

विश्वनाथ : किन्तु क्या ?

भुवनेश्वरी : किन्तु तुम------ पाण्डवों के समान अपने लिए 'कृष्ण' कहाँ से लाओगे ?

विश्वनाथ : (सविस्मय) ऐसा क्यों कहती हो, भुवन ? कृष्ण तो घर में ही मौजूद है---- (भावुक स्वर में) अपना नरेन्द्र----

(नरेन्द्र की बात आते ही भुवनेश्वरी उदास हो जाती है, पर मन मे सहसा उत्साह उमड़ आने के कारण विश्वनाथ इस पर ध्यान नही दे पाते।)

बी.ए. पूरा होते ही---- हम तुरन्त नरेन की कानून की पढाई शुरू करवा देंगे। (कल्पना के सुख मे डूबते हुए) देखना---- बहुत जल्दी ही हमारा नरेन---- कलकत्ता के नामी बैरिस्टरों में गिना जाने लगेगा---- और तब----

(भीतर घुमड़ रही घुटन तथा चेहरे पर छलक आए उदासी के भावो को पति की दृष्टि से छुपाने के उद्देश्य से भुवनेश्वरी खिड़की की ओर मुँह फिरा बाहर का शून्य निहारने लगती है।

अपनी बात पर ऐसी ठण्डी और अनपेक्षित प्रतिक्रिया से विस्मित विश्वनाथ बैठे न रह सकने के कारण उठकर भुवनेश्वरी के एकदम पास जा खड़े होते है।)

(कंधे पर हाथ रखकर) नरेन की बात आते ही तुमने---- मुँह क्यों फिरा लिया अपना ?

(उद्वेलित भुवन कोई उत्तर नही दे पाती।)

(भुवनेश्वरी को अपनी ओर घुमाते हुए) तुम कुछ---- बोल क्यों नहीं रही ?

(कंधों से अचानक घुमा दिए जाने के कारण झटका खाकर हड़बड़ाए भाव से अपनी ओर उठी भुवन की पलकों में ढेर सारी उदासी की गहन धुंध के बीच झलमलाती तरल बूंदों पर दृष्टि पड़ते ही बुरी तरह चौंक पड़े विश्वनाथ दत्त-)

(स्तब्ध भाव से) भुवन ?

(पलभर की चुप्पी के बीच दोनों एक-दूसरे को देखते रहते हैं।)

क्या बात है ? (कोमल स्वर मे) नरेन ने फिर परेशान किया तुम्हें ?

भुवनेश्वरी : (रुंधे कण्ठ से) नरेन पर---- ध्यान ही कब दिया है तुमने ?

विश्वनाथ : भुवन ! हमारा नरेन---- थोड़ा चपल और शरारती जरूर है---- मगर पढ़ाई-लिखाई में तो हर साल अब्वल ही आता है न ? (हल्की मुस्कान

के साथ) और बुद्धि चातुर्य में---- अच्छों-अच्छों के कान काटने की क्षमता है उसमें। (रुककर) कहो तो---- यह हमारे लिए चिन्ता की बात है---- या गर्व की ?

भुवनेश्वरी : और जो किसी दिन---- हमारे तुम्हारे ही कान काट बैठे---- तो न कहना---- (रुककर) भुवन ! समय रहते चेताया क्यों नहीं तुमने ?

विश्वनाथ : (अपने दोनों कानों पर हाथ रखते हुए मुँह बनाकर) अच्छा बाबा---- मान लेते हैं अपनी गलती । (कोमल स्वर में) अब कहो---- ऐसी क्या बात है, जिसने तुम्हें इतना विचलित कर दिया है ?

भुवनेश्वरी : उसका दिन-रात ब्रह्मसमाजियों में आना-जाना, मण्डलियों में भजन गाना, साधु–संन्यासियों के पीछे भागना और पढ़ाई-लिखाई की जगह योगसाधना व शास्त्र–चर्चा करना---- क्या विचलित करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं ? (रुककर) सोचो---- बीस वर्ष की कच्ची आयु---- क्या ऐसे कामों के लिए उपयुक्त है ? (चिन्तित स्वर मे) सांसारिक अनुभवों में एकदम कोरा बालक---- इन सबके बीच---- यदि अपने दादा की तरह भटक गया---- तो क्या करेंगे हम लोग ?

विश्वनाथ : देखो---- यह सब वर्तमान की हवा है---- और किशोरमन की उत्साहभरी हिलोर। इसमें तुम्हें इतना परेशान व आशंकित होने की जरूरत नहीं है। क्या जानती नहीं---- तार्किक तो वह शुरू से ही रहा है ? यदि किसी संन्यासी अथवा अन्य से दो-चार बातें तर्कयुक्त कर लीं तो क्या हुआ ?

(पति की ऐसी हल्की प्रतिक्रिया से भुवनेश्वरी पलभर के लिए सोच मे पड़ जाती है, पर प्रयास नही छोड़ती।)

भुवनेश्वरी : बात इतनी ही होती---- तो कोई चिन्ता न थी।

विश्वनाथ : तो फिर ?

भुवनेश्वरी : जानते हो---- वह सबसे छुपाकर रात में ध्यान भी करता है---- और हर समय अपनी हथेली की रेखाओं में जाने क्या पढ़ता रहता है। (रुककर) उसके हाथ में एक ऐसी रेखा है---- जो अन्य किसी के हाथ में नहीं है।

विश्वनाथ : यह तुमसे किसने कहा ?

भुवनेश्वरी : स्वयं उसी ने बतलाया। (अपनी बात की प्रतिक्रिया जानने के लिए एक क्षण रुककर) कुछ दिन हुए---- द्वार पर आए एक संन्यासी से उसने ऐसे-ऐसे तर्क किए कि वह हतप्रभ रह गया। उसने हाथ व माथे की लकीरें पढ़ीं। स्पष्ट तो कुछ नहीं बतलाया---- पर इतना अवश्य कहा---- माँ ! तेरा यह पुत्र बड़ा होकर नाम करेगा। (घबराए स्वर में) मानो---- सुनकर मेरा तो कलेजा काँप उठा।

विश्वनाथ : (परिहास भाव से) बहुत बुद्धू हो तुम !

(हँस पड़ते हैं।
भुवन मुँहबाए 'न समझने' की मुद्रा में देखती रह जाती है।)

भुवनेश्वरी : क्या मतलब ?

विश्वनाथ : इतना भी नही जानती---- (मुस्कराते हुए) नाम क्या---- केवल संन्यास ले लेने से ही होता है ? (रुककर) यह कलकत्ते का नामी बैरिस्टर होकर भी तो नाम कमा सकता है।

भुवनेश्वरी : तुम पुरुष हो न---- माँ का हृदय क्या समझो ? (उपालम्भ के स्वर में) जिस आदमी ने अदालत को अपना 'घर' तथा मुवक्किलो को ही अपना 'परिजन' मान लिया हो---- उसे कुछ भी कहने से क्या होगा भला ?

विश्वनाथ : (सहास्य) तुम फिक्र न करो---- बी.ए. होते ही उसे कानून की पढाई में लगाने के साथ ही साथ---- सुन्दरवन वाली जमीदारी का काम भी सौंप देंगे---- और जल्दी ही मौका देखकर (परिहासमुद्रा में भुवनेश्वरी की ओर आँखें गड़ाकर) तुम जैसी---- किसी लडकी से उसका ब्याह रचा देंगे।
(सहास्य) फिर देखते हैं---- वह इस मायाजाल को कैसे काटता है ?

(हँस पड़ता है।
भुवनेश्वरी के मुख पर भी गम्भीरता के स्थान पर लजाई मुस्कान उभर आती है।
ठीक इसी क्षण नरेन्द्र का कमरे में प्रवेश–)

नरेन्द्र : (प्रसन्न मुद्रा में चौंकते हुए) अरे ! बाबा---- आ गए---- ?
(लपककर आगे बढ़ पिता के पाँव छूने के उपरान्त लिपट जाता है। विश्वनाथ भी गद्‌गद्‌भाव से उसे अपने मे भर लेते है। भुवनेश्वरी पिछली सारी बाते भूल भावमुग्ध दृष्टि से पिता-पुत्र का मिलन देखती रहती है।)

विश्वनाथ : (सहास्य) और कहिए शास्त्रीजी---- ज्ञानेश्वर जी---- तर्काचार्यजी---- (मुँह बनाकर) कैसा चल रहा है---- आपका काम-काज ?

नरेन्द्र : (मीठी मुस्कान के साथ) आपका बेटा हूँ न ? यह सब तो होगा ही----

विश्वनाथ : (पीठ थपकाते हुए प्यार से) और कह---- क्या चल रहा है इन दिनों ?

नरेन्द्र : बाबा ! कुछ ही दिन हुए---- मैंने जॉन स्टुअर्ट मिल का 'थ्री एस्सेज ऑन रिलीजन' पूरा कर लिया। इसे पढ़कर मैं एक नये असमंजस में पड़ गया हूँ।

भुवनेश्वरी : (मीठी ताड़ना के भाव से) छोड़ो यह शास्त्रचर्चा ! (नरेन्द्र से) दिन भर से अब घर लौटने की फुर्सत मिली है तुझे ? (रुककर) क्या इस शास्त्रचर्चा से ही पेट भर जाएगा तेरा ?

नरेन्द्र : (बाबा को छोड़ माँ भुवनेश्वरी का हाथ पकड़कर बालक की भाँति सटता हुआ) ओऽऽ-- माँ---- सच बहुत भूख लगी है----

भुवनेश्वरी : तो चल--- (ऊँचे स्वर मे) किरण--- ओ किरण-- भैया का खाना लगा दे---

नरेन्द्र : नहीं, माँ ! मैं किरण के हाथ का परोसा खाना नहीं खाऊँगा----

विश्वनाथ : क्यों भई ? क्या छोटी बहिन से झगड़ा हो गया है ?

नरेन्द्र : नहीं, बाबा ! उसने मेरे साथ अक्षम्य छल किया है----

विश्वनाथ : (चौंककर) अक्षम्य छल ? (भुवनेश्वरी की ओर देखकर) मैं कुछ समझा नहीं----

भुवनेश्वरी : मैं समझाती हूँ---- (नरेन्द्र पर मुस्कान भरी दृष्टि डालते हुए) कल--- भूल से किरण ने इसकी थाली में मछली का झोल परोस दिया---- बस तभी से----

विश्वनाथ : ओऽऽ---- समझा---- (परिहास-मुद्रा मे) अरे भई ! बगाली मोशाय हो---- ये मछली से---- नाराजगी कैसी ?

भुवनेश्वरी : (सहास्य) जानते हो---- अब हमारा बिलेह शाकाहारी हो गया है----

विश्वनाथ : (परिहास भरी गम्भीर मुद्रा बनाकर) अच्छा---? इसका मतलब है---- अब तक पूरे नौ सौ चूहे हजम कर चुका ? (नाटकीय अन्दाज़ मे) क्यों बच्चू ?

नरेन्द्र : (बाबा की तरह मुँह बनाकर) लेकिन मैं---- हज करने नही जा रहा, बाबा !

(सब एक साथ ठहाका लगाकर हँस पड़ते है।

इस बीच किरण दरवाजे पर आती दीख पड़ती है। भीतर हँसी का वातावरण देख वह भी मुस्कराए बिना नही रह पाती। तेज हँसी के बीच अचानक विश्वनाथ दत्त की छाती मे तेज दर्द उठता है।

वे चेहरे पर बेचैनी के भाव लिए दोनों हाथों से अपनी छाती थाम लड़खड़ा उठते है।)

नरेन्द्र : (घबराकर) बाबा ! क्या हुआ ? (चिल्लाकर) माँ---- देखो तो----

(भुवनेश्वरी स्थिति को समझ पति की ओर लपकती है। इससे पूर्व ही नरेन्द्र अपनी सबल भुजाओं से पिता को थाम लेता है।

छाती के दर्द से तिलमिलाते विश्वनाथ दत्त नरेन्द्र की बाँहों में लुढ़क पड़ते है। उनका क्षण भर पूर्व का सहज हंसी से भरा उत्फुल्ल मुख बेचैनी की आडी तिरछी रेखाओ और सहसा छलछला आए पसीने की बूंदो से भर उठता है।

अचानक उत्पन्न हुई इस अप्रत्याशित स्थिति को देख पति को सम्हालने को लपकी भुवनेश्वरी तथा दरवाजे पर खड़ी किरण हक्की-बक्की रह जाती है।

कलेजा बुरी तरह से काप उठता है उनका।)

□

अंक : दो
दृश्य : दो

स्थान : नरेन्द्र का पढने का कमरा

समय : रात्रि

(कमरे में इधर-उधर बिखरी पुस्तकों के बीच एक अधखुली पुस्तक को हाथ में लिए विचारमग्न मुद्रा मे बैठा नरेन्द्र तथा अपनी विस्मयभरी जिज्ञासु दृष्टि को एकटक उसके मुख पर गड़ाए सामने बैठा उसका अभिन्न मित्र सुयश।
चुप्पी भरे ऐसे बोझिल क्षणों के बीच सुयश का धीरज अधिक देर नही टिक पाता।)

सुयश : बात करते-करते ही---- ये तुझे अचानक क्या हो गया, नरेन्द्र ?
(अधीर भाव से नरेन्द्र का कधा झकझोर देता है।)

नरेन्द्र : (चौककर) हाँ ?

सुयश : क्या सोचने लगा तू ?

नरेन्द्र : (गम्भीर स्वर मे) सोच रहा हूँ---- उस पादरी को उन कट्टर सनातनी लोगों ने क्यों मारा–पीटा ? क्या केवल इसीलिए---- कि वह अपने धर्म की---- अपने यीशू की बात अन्य लोगों को समझा रहा था ? (रुककर) और यदि यह सत्य है---- तो फिर उन्हें---- अपने ईश्वर की दुहाई देने का---- यीशू की तुलना में अपने ईश्वर की श्रेष्ठता का बखान करने का भला क्या अधिकार है ?

सुयश : ऐसे राजनीति–प्रेरित धर्म का स्वरूप---- कभी कल्याणकारी नहीं हो सकता।

नरेन्द्र : तू ठीक कहता है, सुयश ! इन लोगों ने जाति, धर्म और भाषाओ की तरह---- परमात्मा को भी बाँट लिया है। उसे भिन्न-भिन्न नाम देकर---- मठों में, मन्दिरों में, मस्जिदों और गिरजाघरों में 'सीमित' बना डाला है।

सुयश : तो क्या---- उस 'असीमित' को इच्छानुसार 'सीमाओं' में बाँधा जा सकता है ?

रेन्द्र : यही प्रश्न तो---- मेरे भीतर भी उथल-पुथल मचाए हुए है, सुयश ! (रुककर) क्या परमात्मा आज---- मनुष्य के हाथों इतना विवश हो गया है ? यदि ऐसा है तो---- उसकी 'सर्वशक्तिमानता' और 'सर्वव्याप्ति' पर कौन विश्वास करेगा ?

यश : रुक---- रुक जरा---- (गूढ़ अन्दाज़ में) तू कहीं---- धीरे-धीरे नास्तिक तो नहीं होता जा रहा इन दिनों ?

न्द्र : (लम्बी साँस लेकर) यह तो मै स्वयं भी नहीं जानता---- पर इतना स्पष्ट है कि मै न तो कभी बहुदेववाद को स्वीकार कर पाया हूँ---- और न ही मूर्तिपूजा से सहमत हो पाया हूँ----

(पलभर दोनो के बीच चुप्पी छायी रहती है।

इस बीच गर्दन झुकाए नरेन्द्र हाथ वाली पुस्तक के पृष्ठो को निरुद्देश्य भाव से उलटता-पलटता रहता है।)

: (नरेन्द्र के चेहरे पर दृष्टि गड़ाकर) तुझे इतना उद्विग्न---- पहले तो कभी नहीं देखा, नरेन्द्र ।

(नरेन्द्र कोई उत्तर नहीं देता।)

(सोचते हुए) यह उद्विग्नता---- कही तेरी अपनी घुटन तो नही है ?

: कैसी घुटन ?

: तेरे पारिवारिक विवाद की---- जिसके कारण तुझे आज अपने पुरखों का आलीशान भवन छोड़कर---- इस तरह किराये के छोटे मकान में गुजारा करना पड़ रहा है। (रुककर) जैसा मैं समझ पा रहा हूँ---- अन्य समस्याएँ भी कारण हो सकती हैं---- यथा---- तेरे बाबा की अस्वस्थता, नौकरों की कमी---- सब लोगों की तुझसे---- घर-परिवार के साथ अधिकाधिक जुड़े रहने की अपेक्षा आदि-आदि----

: बाबा की अस्वस्थता और माँ की घबराहट से---- अवश्य मैं कुछ विचलित हूँ, सुयश । (रुककर) किन्तु, शेष बातों का मेरे लिए तनिक भी महत्व नहीं है। (अपने भीतर झाँकने का प्रयास करते हुए) यों---- परिजनों की विविध अपेक्षाओं को मैं समझता हूँ---- पर वे मेरे लिए तभी तक अर्थ रखती हैं---- जब तक कि वे मेरे मार्ग में बाधक न बनें।

: (परिहास-मुद्रा बनाकर) तो यह बता---- (नरेन्द्र की निगाहो में निगाहे डालते हुए) क्या---- कल वाली परीक्षा की तैयारी भी---- तेरे मार्ग में बाधक है ?

(प्रश्न की प्रासंगिकता तथा परिहासमुद्रा में सुयश के कहने के अन्दाज़ से दोनो एक साथ हँस पड़ते है।)

: (हँसी के बीच) बहुत चतुर है रे तू ! घुमा-फिराकर अन्ततः अपने वांछित बिन्दु पर ले ही आया मुझे।

(हँसी फिर एक बार तेज हो जाती है। ठीक इसी क्षण नरेन्द्र की मित्रमण्डली का दूसरा साथी निमग्न हाथ में कुछ कागज लि गुनगुनाता हुआ सीढ़ियाँ चढ़ वहाँ आ धमकता है।)

निमग्न : (मुँह बनाकर कमर पर हाथ लगाते हुए) क्यों भाई ! क्या---- कुछ प्रतीक्षा---- नहीं कर सकते थे तुम लोग ?

नरेन्द्र : (सहास्य) अच्छा जी---- तो अब हँसने के लिए भी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी !

(इस बार की हँसी में तीसरा स्वर भी सम्मिलित हो जाता है।)

निमग्न : (सम्मिलित हँसी के बीच ही बैठते हुए) परीक्षा का भूत सिर पर सवार है---- और तुम लोग हँस रहे हो ?

(इस समय तक हँसी थम चुकी थी।)

सुयश : (संकेतात्मक भाव से अंगूठे को नरेन्द्र की ओर घुमाकर) इन मोशाय की उद्विग्नता की---- तात्कालिक चिकित्सा भी तो आवश्यक थी न !

निमग्न : क्या हुआ मोशाय को ? (नरेन्द्र का कंधा पकड़कर) क्यों भाई ?

नरेन्द्र : (गम्भीर होते हुए) सच तो यह है, निमग्न---- कि इन दिनों मेरे मस्तिष्क में एक भयानक बवंडर चल रहा है। अनेक-अनेक प्रश्न---- भीतर उठापटकियाँ मचाए हुए हैं। उन्हें शान्त करने को जब कुछ नया पढ़ता हूँ---- तो उससे जुड़े और नए प्रश्न भीतर जाग उठते हैं।

(कुछ क्षण हाथ की पुस्तक के पृष्ठों को पलटने में खो जाता है।)

(लम्बी साँस लेकर) जितना पढ़ो---- उतने ही प्रश्न---- उतनी ही समस्याएँ---- उतने ही द्वंद्व----

सुयश : तो फिर ऐसा पढ़ने से लाभ ही क्या---- जो मन में अशान्ति उत्पन्न कर दे---- (रुककर) हमें भीतर तक अस्थिर कर दे----

निमग्न : (परिहास-भाव से) शायद इसीलिए तुम लोग---- किताबों को छोड़ परीक्षा के भूत को सिर पर लादे-लादे हँस रहे थे ?

(इस बार परिहास के बावजूद भी परिहास का वातावरण नहीं बनता।)

(नरेन्द्र के पास सरककर) हाँ---- अब कह---- किस समस्या में उलझा है तू ?

(नरेन्द्र चुप रहता है।)

शायद मैं---- तेरी कुछ सहायता कर सकूँ।

नरेन्द्र : (सोचते हुए) मेरी समस्या यह है कि मैं एक ओर उस सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान ईश्वर तथा दूसरी ओर प्रकृति और मनुष्य में विद्यमान अनिष्ट व अशुभ का किसी भी प्रकार सामंजस्य नहीं बैठा पा रहा हूँ।

निमग्न : यानि ?

: प्रश्न यह उठता है कि---- इन दोनों का एक साथ अस्तित्व कैसे रह सकता है ? (रुककर) यदि सचमुच 'ईश्वर' है---- तो फिर 'पाप' क्यो है ? और यदि---- 'ईश्वर' के होते हुए भी 'पाप' है---- तो ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप दोनों पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है।

: (गम्भीर मुद्रा मे विचारमग्न होते हुए) हूँ---- प्रश्न तो सचमुच जटिल है।

: मेरे भीतर उत्पन्न संशयों ने मुझे इतना हताश कर दिया है कि कभी-कभी मुझे ऐसा लगने लगता है कि पूर्ण सत्य तक शायद कभी नही पहुँचा जा सकता---- और यदि 'सत्य' को जाना नहीं जा सकता---- तो फिर जीवन का अर्थ ही क्या रह जाता है ? (सव्यथा) सशय व भ्रम का जीवन---- क्या जीने योग्य है ?

: (चौंककर) नरेन्द्र ! ये---- किस दिशा में सोचने लगा तू ?

(रात अधिक हो जाने के कारण फैल रहे सन्नाटे के बीच वाहर यदा-कदा भौंक उठते कुत्तों की आवाजें सुन पड़ती है, पर वातों की गम्भीरता में खोये उन तीनों में से किसी को भी इस बात का ध्यान नही हो पाता।)

: 'सत्य' की ये खोज---- बहुत लम्बी है, नरेन्द्र ! इसके लिए तुझे बहुत कुछ करना होगा।

: 'सत्य' की खोज चाहे जितनी लम्बी क्यों न हो---- मैं उसे पार कर लूँगा---- पर वह सम्भव तो होनी चाहिए। (रुककर) लोग कहते हैं---- 'ईश्वर है।' मैं कहता हूँ---- 'यदि है तो दिखाओ।' वे हँस पड़ते हैं---- कहते हैं---- 'ईश्वर को तो स्वयं हमने भी नहीं देखा।' तब मैं उन पर हँस पड़ता हूँ और कहता हूँ---- 'जब तुमने ही ईश्वर को नहीं देखा---- तो कैसे जानते हो कि वह है ?' (रुककर) अब तू ही बता------ ऐसे 'द्वन्द्व' में कोई भला कैसे न उद्विग्न होगा ?

(हाथ के कागजों को टटोलते हुए कुछ सोचकर निमग्न मुस्करा उठता है।)

: (मुस्कराते हुए) रिलेक्स, मित्र ! रिलेक्स----

: ('न समझने' की मुद्रा मे) क्या मतलब ?

: (गर्वीले अन्दाज़ में) बस---- यूँ समझ ले---- तुझे अपने 'द्वन्द्वों' से मुक्ति मिल गई।

: (अविश्वास-भाव से) कोरी बातों से यदि 'द्वंद्व' मिटते तो फिर----

: (माथा पकड़कर बात काटते हुए) च---- अपनी आदत के तूने---- चला दिया न तर्क का तीर ? (मुँह बिगाड़ते हुए) तेरे क्या 'आस्था' नाम की कोई चीज है ही नहीं रे ?

(सुनकर नरेन्द्र हँस पड़ता है।)

(साश्चर्य) तू---- हँस रहा है ?

नरेन्द्र : (हँसी के बीच) न हँसूँ तो क्या करूँ---- जब तू 'आस्था' को 'चीज़' मान बैठा है। (परिहास-भाव से) यानि कि---- तेरे विचार में तो 'आस्था' को जब चाहो---- जिसकी चाहो---- जेब में डाल दो---- कहीं---- (मुस्कराते हुए) जाना हो---- तो किसी मित्र से---- थोड़ी 'आस्था' उधार ले जाओ----

(खिलखिलाकर हँस पड़ता है।)

(हँसी रोकते हुए) छोड़ यह सब बातें---- और कह---- कैसे दिला रहा तू---- मुझे---- मेरे 'द्वन्द्वों' से मुक्ति ?

निमग्न : तुझे याद है---- एक बार क्लास में वर्ड्सवर्थ पढ़ाते समय प्रोफेसर घोषाल ने 'ट्रांस'---- यानि कि 'भाव-समाधि' की चर्चा की थी ?

नरेन्द्र : (स्मृति पर बल देता हुआ) हाँ---- हाँ---- की थी----

निमग्न : उन्होंने यह भी कहा था---- कि---- सात्विक मन की शुद्धता व की यह स्थिति यदि कहीं देखने को मिल सकती है---- तो केवल दक्षिणेश्वर काली मन्दिर के स्वामी रामकृष्ण परमहंस में----

नरेन्द्र : (एकदम गम्भीर होते हुए) मगर उन्हें तो लोग---- पागल कहते हैं---

निमग्न : लोग उन्हें क्या कहते हैं---- क्या नहीं कहते---- इससे तुझे क्या (रुककर विश्वास भरे शब्दों में) पर यह सत्य है---- कि 'द्वन्द्व-मुक्ति' उन्हीं की---- केवल उन्हीं की शरण में सम्भव है----

(पलभर के लिए नरेन्द्र एक गहरे सोच में पड़ जाता है।)

नरेन्द्र : किन्तु यह बात---- किस आधार पर कह रहा है तू ?

निमग्न : इसका भी आधार है मेरे पास---- (हाथ के कागजों को खोलते हुए) देख----

(कागजों को खोलकर नरेन्द्र के सामने फैला देता है।)

नरेन्द्र : क्या है ये ?

(मुख पर 'न समझने' का भाव लिए नरेन्द्र अपनी उत्सुक दृष्टि अपने सामने फैले कागजों को देखने लगता है।)

निमग्न : जानता है---- इन दिनों केशवचन्द्र सेन और अन्य ब्रह्मसमाजी नेता परमहंस की खूब चर्चा कर रहे हैं। (फैले हुए कागजों की ओर संकेत करते हुए) देख---- 'जीवन-दर्पण' तथा 'धर्मतत्व' के इन अंकों में--- उनके बारे में कितना छपा है----? लगता है---- अब तो ब्रह्मसमाजी शनैः शनैः उनकी ओर झुकते जा रहे हैं।

नरेन्द्र : (उत्सुक भाव से) तनिक पढ़कर तो सुना-- क्या छपा है 'जीवन-दर्पण' में ?

निमग्न : लिखा है---- (पढ़ते हुए) 'भागवत्' में एक सच्चे भक्त के जो-जो

गुण बतलाए गए हैं---- वे सभी उनमें देखने को मिलते हैं। जगन्माता के वन्दन के बीच वे---- न जाने कितनी बार---- रोये---- हँसे----- नाचे---- और अचेत हुए ? सहसा विश्वास ही नहीं होता---- कि---- 'भक्ति' को 'भावों' की इतनी गहराई में भी उतारा जा सकता है।

: (अपने आप में डूबते हुए) फिर लोग उन्हें---- पागल क्यों कहते हैं ?

: जब उनकी शरण में जाएगा---- तो यह भी जान लेगा----

: सुना है---- वे यदा-कदा केशवचन्द्र सेन के घर भी जाते हैं।

: केशवचन्द्र सेन के घर ?

: हाँ। (रुककर) कभी पूछ देखना---- केशव बाबू से। उनसे तो तेरी अच्छी खासी पहचान है।

: न हो---- तो कभी चलते हैं---- दक्षिणेश्वर के रानी रासमणि के काली मन्दिर----। (रुककर) स्वयं ही देख लेंगे अपनी आँखों से सबकुछ।

: कभी क्यों---- वे कल ही सुरेन्द्रनाथ मित्र के यहाँ आने वाले हैं।

: (चौंककर) कौन सुरेन्द्रनाथ मित्र ? (याद करते हुए) क्या---- वे ही मित्र मोशाय---- ? अरे---- वे तो हमारे पुराने घर के पास ही रहते हैं----

(नरेन्द्र का गम्भीर चेहरा सहसा खिल उठता है।)

: हाँ---- हाँ---- वे ही---- वे ही मित्र मोशाय----

: (भावुक स्वर में) तू कल के लिए ही बोल रहा था न---- कि वे---- मित्र मोशाय के घर आएँगे ?

: हाँ---- कल ही----

: (भावमग्न होते हुए) तब मैं अवश्य जाऊँगा---- जाना ही होगा मुझे----

(सहसा नरेन्द्र अपने आप में खोने लगता है।
निमग्न व सुयश उसे देख आश्चर्य से भर उठते है।)

: निमग्न---- रोक इसे---- यह तो अभी ही चला परमहंस के पास----

: (कंधा पकड़कर झकझोरते हुए) नरेन्द्र---- नरेन्द्र----

(नरेन्द्र की भावमग्नता नही टूट पाती।
निमग्न उसे झकझोरता रहता है।
इसी समय रात्रि के गहराते सन्नाटे के बीच दूर कही कुत्ते भौंक उठते है।
निमग्न और सुयश की आशंकित दृष्टिया पल भर के लिए एक दूसरी से टकराती हुई पुन. भावमग्न नरेन्द्र को निहारने लगती हैं।)

अंक : दो
दृश्य : तीन

स्थान : सुरेन्द्रनाथ मित्र का घर

समय : प्रातःकाल

(पुरुषों की गहमा-गहमी से शनै. शनै. बोझिल होता जा रहा मि
महाशय के घर की बैठक का बाहरी भाग तथा इसी से जुड़े सा
वाले कमरे में बैठी स्त्रियाँ - कोई कार्यक्रम के शीघ्र आरम्भ के लि
प्रतीक्षारत, किसी में हिलोरें लेती उत्सुकता तो कोई सामने सुसज्जि
आसन पर विराजमान स्वामी रामकृष्ण परमहंस पर दृष्टि गड़
विचारमग्न। अपने अन्तरंग मित्रों सुयश, निमग्न व विनय के सा
बगल वाली अग्रिम पंक्ति में काफी पहले से ही आ बैठा नरेन्द्र।

मन में रह-रहकर उठ रही भाँति-भाँति की उत्सुक आशंकाओं
उद्वेलित दृष्टि कभी नेत्र मूंदे भावसमाधि की स्थिति में बैठे परमहंस
'अति साधारण' व्यक्तित्व में कुछ न कुछ 'असाधारण' ढूँढ़ने
विफल प्रयास करती तो कभी आगत स्त्री-पुरुषों व व्यवस्थाओं
अन्तिम रूप देने में व्यस्त कार्यकर्त्ताओं को निहारने लगती।

नरेन्द्र यह देख-देखकर हैरान था कि आने वाले पुरुष तो परमहंस के
सामने भूमि पर माथा टेक प्रणाम करने के उपरान्त अपना स्थान ग्रहण क
रहे थे, जबकि स्त्रियाँ केवल हाथ जोड़कर ही आगे बढ़ जाती थीं।

उसे इस प्रकार खामोश और खोया-खोया देख निमग्न उत्सुक भाव से
कुछ पास सरक आया -)

निमग्न : (नरेन्द्र के कान के पास मुँह लाकर धीमे स्वर में) क्यों रे---- कैसा लग
रहा है यहाँ आकर ?

नरेन्द्र : (अपने आसपास बैठे लोगों को सहमी दृष्टि से निहारते हुए धीमे स्व
में) निमग्न ! बहुत देर से देख रहा हूँ---- ठाकुर को केवल पुरुष भक्त
ही भूमि पर माथा टिका प्रणाम करते हैं---- स्त्रियाँ नहीं। ऐसा क्यों ?

निमग्न : तुझे नहीं पता---- स्त्रियों के लिए प्रणाम निषिद्ध है ठाकुर के यहाँ ?

नरेन्द्र : (साश्चर्य) क्यों भला ? (रुककर) क्या परम्परावादियों के समान---- ठाकुर के यहाँ भी---- स्त्रियो को पुरुषों की तुलना में हीन माना जाता है जो----

निमग्न : (नरेन्द्र का हाथ दबा मुँह बिचकाते हुए फुसफुसाहट भरे स्वर में) धीरे बोल---- (इधर-उधर देखते हुए) कोई सुन लेगा।

नरेन्द्र : (सहमे भाव से) कुछ गलत कहा मैंने ?

निमग्न : (गूढ़ मुस्कान के साथ) मूर्ख है तू। ठाकुर के लिए ऐसा सोचना भी पाप है----

नरेन्द्र : क्या मतलब ?

निमग्न : ठाकुर---- संसार की प्रत्येक स्त्री में---- साक्षात् 'जगन्माता' का निवास मानते हैं। (सहास्य) ऐसे में किसी भी स्त्री का प्रणाम---- भला वे कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? (रुककर) अब तू ही बता---- उनके लिए 'मातृरूपा स्त्री' प्रणम्य हुई कि नहीं ?

(नरेन्द्र सहसा कुछ बोल नही पाता।
चुपचाप ठाकुर के मुख पर दृष्टि गड़ाए केवल सोचता रहता है।)

नरेन्द्र : (मन ही मन सोचते हुए) यह कौन नई बात हुई ? इस देश में तो 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते---- रमन्ते तत्र देवताः' का आदर्श प्राचीनकाल से ही हमारी संस्कृति और समाज-व्यवस्था का मूलाधार रहा है। (आशंकित भाव से) लगता है---- किसी ने निमग्न को बहका दिया---- और निमग्न ने मुझे। (रुककर) वरना तो---- 'परमहंस' की ख्याति वाले व्यक्तित्व की इस बढ़ी बेतरतीब दाढ़ी, ठेठ देहाती वेशभूषा---- और कृशकाय शरीर में ऐसा कुछ भी तो दृष्टिगत नही होता---- जिसके आधार पर यह विश्वास हो सके---- कि यह मुझे मेरे भीतर के 'द्वन्द्वों' से मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

(विचारों में खोये नरेन्द्र को आसपास का कुछ भी ध्यान नहीं रहा। इसी समय आतिथ्य सुरेन्द्रनाथ मित्र कुछ कहने के लिए सामने आ खड़े होते है।
उन्हे देख उपस्थित लोग व्यवस्थित होने लगते है। सारी गहमा-गहमी पलभर में शान्त हो जाती है, किन्तु नरेन्द्र तो फिर भी आत्मलीन बना रहता है। सुयश, निमग्न तथा विनय उसे देख निगाहों ही निगाहों में मुस्कराते हुए मित्र महाशय की ओर घूम जाते हैं।
ठाकुर अभी भी नेत्र मूंदे भाव-समाधि की स्थिति में बैठे है।)

सुरेन्द्रनाथ : (ठाकुर की ओर देखते हुए सविनय) ठाकुर ! श्रद्धालुजन---- आपके श्रीमुख से---- आशीर्वाद के दो शब्द सुनना चाहते हैं।

(ठाकुर के बन्द नेत्र खुल जाते है तथा मुख पर एक मीठी भावमयी मुस्कान सहज ही बिखर जाती है।)

ठाकुर : (धीमे-शान्त स्वर मे) आशीर्वचन की अधिकारिणी तो---- जगन्माता है, सुरेन्द्र ! मैं भला---- क्या कह सकता हूँ ?

सुरेन्द्रनाथ : (हाथ जोड़कर) तो आप---- जगन्माता से निवेदन करें---- कि वे--- आपके श्रीमुख के माध्यम से हमें अपना आशीर्वाद प्रदान करें।

ठाकुर : (मुस्कराते हुए) बहुत चतुर हो गए हो तुम आजकल !

(किसी निर्मल झरने के मधुर कल-नाद के समान सरल-निश्छल हँसी हँस पड़ते है ठाकुर।

हँसी के बीच अचानक उनकी दृष्टि आत्मलीन नरेन्द्र पर पड़ती है तो वे एक झटके मे अपनी हँसी रोक एकटक दृष्टि से नरेन्द्र को देखने लगते हैं। ठाकुर के इस आकस्मिक और अप्रत्याशित भाव-परिवर्तन से सभी लोग चौंक पड़ते है, पर कोई भी इसका कारण नही समझ पाता।)

सुरेन्द्रनाथ : (सशंक भाव से) क्या बात है, ठाकुर ? (हाथ जोड़कर) कोई चूक हो गई---- यहाँ किसी से ?

ठाकुर : (नरेन्द्र की ओर संकेत कर) यह लड़का कौन है ?

(सुरेन्द्रनाथ मित्र सहित सभी उपस्थित लोगो की उत्सुक दृष्टियाँ आत्मलीन नरेन्द्र पर गड़ जाती है।

निमग्न, सुयश तथा विनय भी हक्के-बक्के-से कभी नरेन्द्र की ओर देखते है तो कभी ठाकुर की ओर।

किन्तु, अपने आप मे पूरी तरह डूबा नरेन्द्र इस सबसे सर्वथा बेखबर अपने में ही खोया रहता है।)

सुरेन्द्रनाथ : (पहचानते हुए) ये---- नरेन्द्र है, गुरुदेव । कॉलेज में बी.ए. का विद्यार्थी है। इसके पिता विश्वनाथ दत्त हाइकोर्ट में एटर्नी हैं---- बहुत ही सज्जन और सुसस्कृत। पास ही की बस्ती में इनका पैतृक भवन है।

ठाकुर : (कुछ याद करते हुए) पहले कभी देखा नहीं इसे ?

(कहते हुए एक झटके के साथ उठ खड़े हुए ठाकुर और लोग कुछ समझें, इससे पूर्व ही आत्मलीन नरेन्द्र के एकदम पास जा इन्होंने अपनी पैनी निगाहें उसकी अपने आप में खोई स्थिर आँखो मे गड़ा दी।

पल भर में ही ठाकुर ने नरेन्द्र को भीतर तक पढ़ लिया। मुख पर उल्लास और अधरों पर एक मीठी मुस्कान लिए ठाकुर ने नरेन्द्र की कलाई पकड़ ली।

एक सर्वथा अपरिचित स्पर्श के साथ ही उसकी गहन आत्मलीनता एक झटके के साथ बिखरकर चूर-चूर हो गई।

चौंकी दृष्टि उठी तो सामने अपने एकदम पास ठाकुर को पाकर घबरा गया, वह उस अप्रत्याशित क्षण में।

पल भर दृष्टियाँ मिली रही।)

(कलाई की पकड़ को और अधिक कसते हुए उपालम्भ के स्वर में) इतने दिन कहाँ था तू ? (रुककर) मैं तो तुझे--- ढूँढ़-ढूँढ़कर थक गया था रे ।

नरेन्द्र : (चौंककर) जी ?

ठाकुर : चौंक मत। (भावावेश में) मैं तुझे---- न जाने कबसे जानता हूँ। (मीठे उपालम्भ के साथ) देख---- पहचान लिया न मैंने तुझे ?

(नरेन्द्र के दोनों हाथों को अपने हाथों मे लेकर कभी उसकी हथेलियो को उलट-पलट कर देखने लगते है तो कभी उसके ललाट और आँखों में कुछ पढ़ने का प्रयास करते है।)

तू दक्षिणेश्वर क्यों नही आया अब तक ? तुझे तो बहुत पहले ही आ जाना चाहिए था वहाँ। (नरेन्द्र के मुख पर कोमल दृष्टि डालते हुए) जानता है---- मैं तेरी कब से प्रतीक्षा कर रहा था ?

(नरेन्द्र ठाकुर से अधिक देर दृष्टि मिलाए न रख सका। वह ठाकुर की बातों और उनके व्यवहार से हक्का-बक्का रह गया।

ठाकुर के स्पर्श से नरेन्द्र के पूरे शरीर मे एक विचित्र-सी झुरझुरी दौड़ गई, जैसे अदृश्य विद्युतधारा ही प्रवाहित हुई हो। घबराकर उसने ठाकुर से अपने दोनो हाथ छुड़ा लिए।)

(आत्मीय भाव से) अब तो तुझे दक्षिणेश्वर आना ही होगा---- एक बार। (कोमल आग्रह के स्वर में) बोल---- आएगा कि नही ?

(ठाकुर का सम्मोहन नरेन्द्र के मन-मस्तिष्क पर कुछ इस प्रकार छा चुका था कि अत्यधिक घबराहट और पसीने के बावजूद भी वह मना न कर सका -)

नरेन्द्र : आऊँगा---- अवश्य आऊँगा----

ठाकुर : (तसल्ली की साँस लेते हुए) अच्छा--- अब कुछ गा-- (गूढ़ अन्दाज़ मे) तू तो वाद्य और कण्ठ दोनों ही प्रकार के संगीत में निपुण होने लगा है।

(कहते हुए ठाकुर नरेन्द्र के पास से हटकर पुन. अपने आसन पर जा बैठते है।

अन्य लोग भी व्यवस्थित होने लगते हैं।

सुरेन्द्रनाथ मित्र के संकेत पर हारमोनियम और तबला लिए साजिन्दे नरेन्द्र के पास आ बैठते है।

नरेन्द्र सहमे भाव से सम्हलने व संयत होने का प्रयास करता है।)

सुरेन्द्रनाथ : गाओ, नरेन्द्र ! ठाकुर का प्रबल आग्रह है----

(नरेन्द्र हारमोनियम अपनी ओर खींचकर अपने अनुकूल स्वर निकालता है।

तबलावादक हारमोनियम से फूट रहे स्वरों के अनुसार अपना तालमेल बनाने का प्रयत्न करता है।)

नरेन्द्र : (मन ही मन) अब तो गाना ही होगा। कैसे टालूँ इस आग्रह को ? (सविस्मय) ठाकुर तो सब कुछ जानते हैं----

ठाकुर : (अधीर भाव से) जल्दी शुरू कर न ?

(हारमोनियम के स्वर सधते ही नरेन्द्र गाने लगता है -)

नरेन्द्र : (गाते हुए) 'रहना नहिं, देस बिराना है----।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटों की बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।
यह ससार झाड़ ओ झाँखर, आग लगै बरि जाना है।
कहत 'कबीर' सुनो भई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।'

(ठाकुर अत्यधिक तन्मयता के साथ सुनते रहे। अन्य लोग भी मंत्रमुग्ध बैठे थे।

गायन समाप्त होते-होते ठाकुर का चेहरा खिल उठा।)

ठाकुर : (भावमुग्ध स्वर में) तू तो सचमुच---- बहुत अच्छा गाता है रे। लगता है---- सरस्वती स्वयं विराजमान है---- तेरे कण्ठ में। (रुककर) तू दक्षिणेश्वर आना अवश्य। माँ काली का आशीर्वाद मिलेगा तुझे। आएगा न ? (साग्रह) याद है न तुझे अपना वचन ?

नरेन्द्र : जी---- अवश्य आऊँगा----

ठाकुर : सुरेन्द्र ! (नरेन्द्र की ओर संकेत कर) यह तुम्हारा दायित्व है।

सुरेन्द्रनाथ : (हाथ जोड़) आप निश्चिन्त रहें, ठाकुर !

(सहसा सभी के देखते-देखते एक लम्बी साँस खींचकर ठाकुर भाव-समाधि में खो गए। उनकी खुली पलकों में दोनों पुतलियाँ आकाश की ओर लक्ष्यवत् स्थिर हो गईं।

सुरेन्द्रनाथ मित्र के संकेत पर तत्क्षण झाँझ-मजीरे और घण्टे-घड़ियाल बज उठे। श्रद्धालु करबद्ध नमित हो गए।

यह देख नरेन्द्र चकरा गया।)

नरेन्द्र : (चकित भाव से) ये सब क्या है, निमग्न ?

निमग्न : ठाकुर समाधि में चले गए हैं। (रुककर) समाधि पूरी होने तक---- अब यही सब चलता रहेगा----

नरेन्द्र : (इधर-उधर दृष्टि डालते हुए) चल---- चुपचाप निकल चलते हैं यहाँ से।

(उस भावमग्न हलचल में खोए श्रद्धालुओं के बीच निमग्न का हाथ पकड़ नरेन्द्र तेजी से बाहर निकल आता है। पीछे-पीछे ही विनय और सुयश भी।

बाहर सड़क पर आकर ही दम लेता है नरेन्द्र।)

विनय : (साश्चर्य) इस तरह भाग क्यों आया तू---- नरेन्द्र ?

नरेन्द्र : (हाँफते हुए) उन विचित्रताओं के बीच---- दम घुटने लगा था मेरा !

निमग्न : कैसी विचित्रताएँ ?

नरेन्द्र : (असमंजस भाव से) ठाकुर---- क्या सचमुच मुझे पहले से जानते हैं ? (सोचते हुए) मगर कैसे ? मैं तो पहले कभी नहीं मिला इनसे---- फिर ऐसा क्यों कहा उन्होंने मुझसे ? इतने लोगों के बीच केवल मेरा ही हाथ क्यों पकड़ा ? (भावमग्न स्वर में) कैसा विचित्र था-- ठाकुर का स्पर्श ? जैसे एक झटके के साथ पूरे शरीर में विद्युतधारा प्रवाहित हो चली हो।

सुयश : (उत्सुक भाव से) कैसी थी रे---- वो अलौकिक अनुभूति ?

नरेन्द्र : कुछ समझ नही पा रहा हूँ मैं--- क्या थी वह अनुभूति---- और कैसी थी ?

निमग्न : ठाकुर का व्यक्तित्व है ही अनोखा !

नरेन्द्र : मुझे तो ये कोई---- तांत्रिक लगता है---- जो ढोंगी भी है---- और पागल भी---- (सोचते हुए) मैं दक्षिणेश्वर नही जाऊँगा---- कदापि नहीं----

सुयश : फिर तेरे उस वचन का क्या होगा---- जो तूने ठाकुर को दिया है ?

नरेन्द्र : कुछ भी कह----

निमग्न : (समझाते हुए) प्रथम दर्शन में ठाकुर के प्रति ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिए तुझे। (रुककर) कह तो---- क्या जल की सतह देखकर---- उसकी गहराई का अनुमान लगा सकता है कोई ?

(नरेन्द्र चुप रहता है।)

(कंधा पकड़कर) नहीं, नरेन्द्र ! (रुककर) इसके लिए तो तुझे---- 'भीतर' तक पैठना होगा---- 'भीतर तक'----

(नरेन्द्र गहरे सोच में डूब जाता है।)

सुयश : निमग्न ठीक कहता है, नरेन्द्र। ऐसे असाधारण व्यक्तित्व को साधारण दृष्टि से प्रथम दृष्टया समझ पाना सर्वथा असम्भव है।

विनय : किन्तु ---- हमारा नरेन्द्र ही कौन कम 'असाधारण' है ?

निमग्न : (नरेन्द्र की बाँह पकड़कर) चल---- चलते हैं----

(विचारमग्न नरेन्द्र यंत्र चालित-सा खिंचा चला जाता है।)

अंक : दो
दृश्य : चार

स्थान : सागर-तट

समय : अपराह्न

(सागर-तट के एकान्त क्षेत्र मे खड़ी विविध आकार-प्रकारों वाली ऊबड़-खाबड़ खामोश चट्टानों के बीच घिरा अपने आप से जूझ रहा नरेन्द्र।

सामने सुदूर क्षितिज से पागलों की तरह बौखलाकर उसी ओर दौड़ी आ रही आवेग भरी लहरें लहराती हुई खामोश पथरीली चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो उसकी स्थिर-उदास आँखों की राह भीतर तक बिखर-बिखर जा रही थी।

तटीय क्षेत्र मे यत्र-तत्र किंकर्तव्यविमूढ़-से पंक्तिबद्ध खड़े ताड़ और नारियल के आसमान-छूते वृक्ष।

ऐसे में अपने आसपास से पूरी तरह बेखबर नरेन्द्र के विकल-व्यथित मन को मरोड़ती स्मृतियों और कचोटती दुविधाओं के बीच यदा-कदा जाग उठते प्रश्नो की गुपचुप रस्साकशी चल रही थी।

सहसा बनती-मिटती लहरों की उठान-गिरान के साथ हिचकोले खाते माँ, बाबा, मौशी बूआ और ठाकुर के डूबते-उतराते चेहरों की भीड़ को पीछे धकेल बाबा का चेहरा सामने आ गया -)

विश्वनाथ : तुम अब बच्चे नही रहे, नरेन ! जरा सोचो---- 'ईश्वर' के पीछे इस प्रकार पागलों की भाँति भागने से---- क्या मिल जायेगा वह तुम्हें ? अब तक मिला है किसी को ? तुमने महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से पूछा---- केशवचन्द्र सेन से पूछा---- न जाने कितने ही सन्यासियों मे यही प्रश्न किया----। क्या उनमें से किसी ने भी स्वीकार किया है---- कि उनका 'ईश्वर' से साक्षात् हुआ है ?

(पलभर की चुप्पी में लहरों के चट्टानों से टकराने की ध्वनियाँ गूँजती रहती हैं।)

जो सचमुच हुआ होता ऐसा कभी---- तो 'दर्शन' को---- 'ईश्वर' के 'स्वरूप' को लेकर युगों से इस प्रकार की माथापच्ची की आवश्यकता ही कहाँ थी ?

(इसी समय लहरों की हलचल के बीच से नरेन्द्र को स्वयं अपना ही चेहरा निकलता दीख पड़ा, जो बाबा से कह रहा था -)

नरेन्द्र : तो फिर ऐसे 'ईश्वर' की कल्पना ही कैसे आई मस्तिष्क में---- बाबा---- जिसका 'होना' ही कभी प्रमाणित नहीं हुआ ? (रुककर) क्या---- शास्त्र झूठ बोले---- या हम ही ऐसी सामर्थ्य नहीं जुटा पाए ?

विश्वनाथ : सो मैं नहीं जानता, पुत्र ! मैं तो गृहस्थ हूँ---- और इतना जानता हूँ कि---- जीवन अपने आप में एक 'साधना' है---- और इससे जुड़े दायित्वों का निर्वहन---- हमारा प्रथम 'धर्म'। (लम्बी साँस लेते हुए) तुमसे भी मैं---- यही चाहता हूँ, नरेन्द्र ! ईश्वर के प्रति आस्थावान रहो अवश्य---- पर अपने सांसारिक दायित्वों पर भी ध्यान दो।

नरेन्द्र : बाबा !

विश्वनाथ : (थके स्वर में) मैं अब---- शिथिल होने लगा हूँ, बेटे ! शेष 'सांसारिक दायित्व' तुम्हें निभाने है। (रुककर) किन्तु, इसके लिए पहले तुम्हें---- अपने लिए सामर्थ्य जुटानी होगी।

नरेन्द्र : (उत्सुक स्वर मे) कैसी सामर्थ्य ?

विश्वनाथ : जीविकोपार्जन की---- ताकि तुम अपने 'परिवार' का समुचित पालन-पोषण कर सको। मैं चाहता हूँ---- तुम तुरन्त ही कानून की पढ़ाई शुरू करो---- अटोर्नी की परीक्षा दो---- और कलकत्ते के नामी बैरिस्टर बनो। (लम्बी नि.श्वास के साथ) तभी मैं---- तुम्हारी माँ और तुम्हारे भाई-बहिनों के भविष्य के प्रति निश्चिन्त हो सकूँगा।

नरेन्द्र : किन्तु, बाबा----?

विश्वनाथ : (बात काटते हुए) मेरा अब---- कोई भरोसा नहीं है, बेटे ! (रुककर) तुम बीस पार कर चुके हो----। स्थिति की जटिलता को समय से पूर्व ही समझते हुए तुम्हें अब---- अपने विवाह के प्रति भी गम्भीरता से सोचना चाहिए।

नरेन्द्र : (चौंककर) यह आप क्या कह रहे हैं, बाबा ? अभी तो मैं विद्यार्थी हूँ ? (रुककर) यों भी शास्त्रों में गृहस्थाश्रम की आयु पच्चीस वर्ष बतलाई है।

(इसी क्षण लहरो की तेज हिलोर के साथ माँ भुवनेश्वरी का चेहरा भी डूबता-उतरता आता दीख पड़ता है।)

भुवनेश्वरी : (मीठी ताड़ना के भाव से) क्यों रे ? (रुककर) तू चाहता है---- मैं जिन्दगी भर गृहस्थी में इसी तरह खटती रहूँ ?

नरेन्द्र : माँ ।

भुवनेश्वरी : घर---- अकेले पुरुष से ही नहीं चलता, नरेन ! उसे सम्हालने के लिए-- वधू लानी भी आवश्यक होती है। (भावुक स्वर में) तेरी बहिनें ससुराल गईं---- पीछे तेरे दोनों छोटे भाई हैं---- हम सब हैं---- उनकी देखभाल के लिए---- मुझे भी तो सहारा चाहिए----

नरेन्द्र : (दृढ़ शब्दों में) नहीं, माँ ! मैं अभी विवाह नहीं कर सकता।

विश्वनाथ : (कठोर स्वर में) और यदि मैं आज्ञा दूँ---- तो भी नहीं ?

नरेन्द्र : (विनयभाव से) इस उद्दण्डता के लिए मैं क्षमा चाहता हूँ, बाबा !

भुवनेश्वरी : (सक्रोध) नरेन ? अपने बाबा का भी लिहाज नहीं, तुझे ?

नरेन्द्र : (अविचलित भाव में) पर मैं इस समय---- अपने 'सत्य' की खोज में लगा हूँ, माँ ! (रुककर) पहले उसे खोज लूँ---- तब देखा जाएगा।

भुवनेश्वरी : कैसा सत्य ?

नरेन्द्र : ईश्वर का साक्षात्----

भुवनेश्वरी : क्या---- माता-पिता की अवज्ञा करके---- पा सकेगा तू ईश्वर का साक्षात् ?

(सहसा एक तेज हिलोर से डगमगाते माँ भुवनेश्वरी, बाबा विश्वनाथ दत्त तथा स्वयं उसके चेहरों के बीच किसी पुरुष-कण्ठ की भारी ध्वनि गूंज उठती है -)

ध्वनि : सावधान नरेन्द्र ! भूलकर भी लिहाज न करना---- (रुककर) भावुकता में बह न जाना कहीं। वरना तेरे भीतर उद्वेलित प्रश्नों का क्या होगा ?

नरेन्द्र : कौन हो तुम ?

ध्वनि : मैं---- तुम्हारा मस्तिष्क----

(इस कथन के साथ ही आड़ी-तिरछी परस्पर एक-दूसरी को काटती छोटी-बड़ी लकीरों वाला एक ऊबड़-खाबड़ चेहरा लहरों के बीच झूलता हुआ उभर आता है।)

'भावुकता' से 'सत्य' नहीं मिलता, नरेन्द्र ! अतः किसी भी बात पर केवल, इसीलिए विश्वास मत कर लो---- कि उसे किसी ने कहा है---- या कि वह पुस्तकों में लिखी हुई है। (रुककर) स्वयं 'सत्य' को खोजो, खुद आँखों से देखो---- पहले समझो---- और तब विश्वास करो।

(इसी समय लहरों पर झूलता सपाट चेहरा लिए नरेन्द्र का मन सामने आ धमकता है -)

मन : इसके बहकावे में मत आना, नरेन्द्र ! (रुककर) इसके तर्कों के 'मकड़जाल' में यदि उलझ गए---- तो वहीं के वहीं भटकते रह जाओगे।

नरेन्द्र : (मस्तिष्क पर जोर डालते हुए) तुम्हें---- पहचान नहीं पा रहा हूँ मैं।

मन : (सव्यंग्य) 'शास्त्रों' की शुष्क जटिलताओं में जीवन के 'सत्य' तलाशने में

लगे तुम---- भला अपने 'संवेदनशील' मन को कैसे पहचान पाओगे ? (रुककर) इसके लिए तो तुम्हें---- आसमानी ऊँचाइयों को छूते पथरीले गिरि-शिखरों और ऊबड़-खाबड़ तंग घाटियों से नीचे उतरकर समतल भूमि पर आना होगा।

(मस्तिष्क व्यंग्य से हँस पड़ता है।)

मस्तिष्क : (सहास्य) वाह---- क्या मार्ग बतलाया है जीवन-विकास का ?

मन : (क्षुब्ध भाव से) क्या मतलब ?

मस्तिष्क : (मुँह बनाकर) ऊंचे गिरि-शिखरों से समतल भूमि पर नीचे उतार देने के बाद----- नरेन्द्र को---- किसी गहरी-अन्धेरी खाई में धकेलने का इरादा है तुम्हारा ?

मन : (सक्रोध) बकवास बन्द करो।

मस्तिष्क : ये मन तो बेपेंदी का लोटा है, नरेन्द्र ! जो भावुकता और संवेदनशीलता का आवरण डालकर---- अपने 'ढीलेपन' की दुर्बलता को छिपाना चाहता है। इसीलिए तो इसका चेहरा---- बिना रूप-आकार वाला एकदम सपाट है। (गूढ़ अन्दाज़ में) तनिक सोचो---- जो मन ही विश्वसनीय होता---- तो ऋषि-मुनि और सभी शास्त्र------ क्यों मन को वश में करने की आवश्यकता पर बल देते ? तुम चलो मेरे साथ----

(मस्तिष्क नरेन्द्र को पकड़ने को हाथ बढ़ाता है, पर सहसा बीच में एक लहर आ जाने से यह सम्भव नहीं हो पाता।)

मन : (आगे बढ़कर) नहीं, नरेन्द्र ! मैं तुम्हें इसके साथ नहीं जाने दूँगा। (रुककर) 'सत्य' हो अथवा 'ईश्वर'---- उसे 'आस्था' से ही पाया जा सकता है---- 'तर्क' से नहीं। (रुककर) 'तर्क' से 'आस्था' आहत होती है। तभी तो 'ईश्वर' को 'तर्कातीत' कहते हैं क्योंकि हजारों वर्षों के बाद भी 'दर्शन'---- परमात्मा के साक्षात् की बात तो दूर रही---- उसके 'स्वरूप' तक का निश्चय नहीं कर पाए। (रुककर) इसलिए 'सत्य' पाना है---- तो तुम्हें मेरे साथ चलना होगा----

(मन हाथ पकड़कर नरेन्द्र को अपने साथ खींच ले चलता है। यह देख मस्तिष्क लपककर नरेन्द्र का दूसरा हाथ पकड़कर विपरीत दिशा में खींच ले जाना चाहता है।)

मस्तिष्क : (हाथ खींचते हुए) नहीं---- नरेन्द्र मेरे साथ जाएगा----

मन : (नरेन्द्र को अपनी ओर खींचते हुए) नहीं---- मेरे साथ----

(इस अप्रत्याशित खींचतान से तंग आ नरेन्द्र बौखला उठता है।)

नरेन्द्र : (सावेश) मैं तुममें से किसी के साथ नहीं जाऊँगा। हट जाओ यहाँ से----

(क्रोध मे उफनते हुए एक जोरदार झटके के साथ दोनों से अपना हाथ छुड़ा उन्हें एक ओर धकेल देता है।

लहरों में इस खींचतान से उत्पन्न तीव्र हलचल के कारण मन व मस्तिष्क के चेहरे खो जाते है।

भावावेश मे नरेन्द्र हाँफने लगता है।)

(भावावेश में) उफ् ! क्या करूँ---? किधर जाऊँ मैं ?? कहाँ मिलेगा मुझे---- मेरा सत्य ???

(सहसा एक शान्त व गम्भीर पुरुष स्वर की गूंज के साथ लहरों के बीच महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का चेहरा दीख पड़ता है नरेन्द्र को।)

देवेन्द्रनाथ : (शान्त-धीमे स्वर में) उद्विग्न मत हो, पुत्र ! (रुककर) 'सात्विक भाव' और 'शुद्ध आचरण' पर चलकर हम जो कुछ पाते हैं---- वहीं तो है 'परमतत्त्व'। वह तो तुम्हारे भीतर बैठा है---- बाहर कैसे मिल सकता है भला ? (कोमलभाव से) इसीलिए मैंने तुमसे कहा था---- योग के द्वारा 'अपने' को 'अपने भीतर' उतारो----

(इसी समय लहरों के थपेड़ों के बीच ठाकुर का चेहरा और स्वर एक साथ स्पष्ट होते है -)

ठाकुर : (उपालम्भ के साथ) देख---- अभी तक भी नहीं आया न तू दक्षिणेश्वर ? क्या---- ऐसे ही कच्चे होते हैं तेरे वचन ? (रुककर) तुझे 'सत्य' पाना है न---- तो बस दुविधा छोड़ अपनी---- और चला आ जगन्माता के चरणों में----

(अगले ही क्षण केशवचन्द्र सेन का चेहरा भी उभरता है -)

केशवचन्द्र : तुम 'समाज' से दूर भागकर 'सत्य' पाना चाहते हो ? यह भूल है तुम्हारी। (समझाने के स्वर मे) 'नर' में 'नारायण' की छवि देखो--- *सुलझ जाएगा सारा रहस्य---- और मिट जाएगी सारी दुविधा----*

(पर अलग-अलग बातो से नरेन्द्र के मन की दुविधा घटने के *बर बढ़ जाती है।*

उद्विग्न दृष्टि उठती-गिरती लहरियों के बीच झूलते पिता विश्वनाथ के चेहरे पर टिक जाती है -)

विश्वनाथ : (आसपास फैले चेहरों पर दृष्टि फेंकते हुए) मार्गों की यह विविधता भटका देगी, नरेन्द्र ! बचो---- इनसे बचो, पुत्र ! (रुककर) लौट आ हमारे पास---- (भुवनेश्वरी के चेहरे की ओर संकेत कर) देख तुम्हारी माँ---- कैसी आशाभरी दृष्टि से तुम्हारी ओर निहार रही है (निःश्वास के साथ) तुम्हारे लौटने की प्रतीक्षा कर रही है----

(नरेन्द्र की दृष्टि माँ भुवनेश्वरी के व्यथित मुख पर केन्द्रित होती है।

भुवनेश्वरी : (साश्रु नयनों से निहारती हुई) हाँ---- हाँ---- लौट आओ, पुत्र ! (रुककर) माँ की गोद में ही मिल सकती है---- तुम्हें सच्ची शान्ति---- सच्चा सुख----

(किंकर्तव्यविमूढ़ नरेन्द्र कभी महर्षि देवेन्द्रनाथ का चेहरा देखता है तो कभी केशवचन्द्र सेन का। कभी ठाकुर का तो कभी माँ-बाबा का।

चेहरों की इस भीड़ में कुछ क्षण के लिए नरेन्द्र सब कुछ भूल जाता है।

अचानक उठी तेज हिलोर के साथ बह आया एक विशाल मत्स्य हिंस्रमुद्रा में हड़बड़ाए चेहरों की ओर लपकता है।

देखते-देखते उन चेहरों के बीच हलचल मच जाती है। विश्वनाथ दत्त और भुवनेश्वरी नरेन्द्र को लेकर आशंकित हो भयभीत स्वर में चिल्ला पड़ते हैं-)

विश्वनाथ : (चिल्लाकर) नरेन---- भागो----

भुवनेश्वरी : नरेन----

विश्वनाथ : कहीं यह मत्स्य---- बचो नरेन---- म--रे--न----

(कथन पूरा होने से पूर्व ही अचानक उठी तेज हिलोर और मत्स्य के चपेटे से सब कुछ बिखर जाता है।

मत्स्य घूमकर विश्वनाथ दत्त की ओर लपकता है।

अगले ही क्षण नरेन्द्र को पुकारता बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त का चेहरा लहरों की उथल-पुथल में कहीं खो जाता है।)

: (चिल्लाकर पुकारता हुआ) माँऽऽ---- बाबाऽऽऽ----

(नरेन्द्र ने दृष्टि गड़ाकर इधर-उधर देखा, पर न बाबा कहीं दीखे, न माँ। अचानक लहरो मे डूबता-उतराता माँ भुवनेश्वरी का हिचकोले खाता चेहरा दीख पड़ा -)

(ऊँचे स्वर मे) मैं आ रहा हूँ, माँ !

(घबराई भुवनेश्वरी की दृष्टि लहरों में बहे जा रहे पति पर पड़ी, जो उन्हे मत्स्य की ओर ही धकेल रही थी।

वह चीख पड़ी -)

श्वरी : (कातर कण्ठ से चिल्लाती हुई) दौड़ो---- नरेन---- दौड़ो---- (लहरों में हाथ-पाँव पछाटती हुई) देखो---- तुम्हारे बाबा---- उन्हे बचाओ---- बचाओ---- नरेन---- बिलेह तू कहाँ है ?

(इस सम्पूर्ण भावतन्द्रा में खोया सागर-तट पर बैठा नरेन्द्र अपनी वास्तविक स्थिति को भूलकर चिल्ला पड़ा -)

: (भावमग्न अवस्था मे ही उठता हुआ चिल्लाते स्वर मे) माँ ! मैं आ रहा हूँ---- अभी खोजता हूँ बाबा को। (चिल्लाते हुए) बाबा---- बाबा---- मैं आ रहा हूँ----

(भावमग्न अवस्था में अनजाने ही नरेन्द्र सामने सागर की मचलती लहरों की ओर दौड़ पड़ता है।
सागर की लहरों पर ढलती साँझ की लालिमा के बीच ठीक इसी क्षण कंधे पर जाल लादे उसी ओर आ रहे तीन-चार मछुआरे नरेन्द्र को पागलों के समान सागर की लहरों की ओर लपकता देख चौंक पड़ते है।
स्थिति की गम्भीरता को समझ उनमे से एक बलिष्ट मछुआरा लपककर नरेन्द्र को पकड़ लेता है।)

पहला : (नरेन्द्र को पकड़कर रोकते हुए) बाबू---- बाबू---- ये क्या कर रहे हो ?

नरेन्द्र : (उसी भावाविष्ट मनोदशा में छूटने के विफल प्रयास के साथ) मुझे---- जाने दो---- (सामने की ओर सकेत कर) वहाँ---- मेरे संकट मे हैं----

(मछुआरे उसी ओर दृष्टि गड़ाते है, पर वहाँ लहरों के अलावा कुछ भी नही दीखता है।
इस बीच तीनों मछुआरे भी दौड़कर पास आ जाते है।)

दूसरा : (सकेत की दिशा मे दृष्टि गड़ाए हुए) कहाँ ? वहाँ तो कोई भी है----

नरेन्द्र : (छटपटाते स्वर में) बाबा---SSS----

(मछुआरे की पकड़ से छूटकर लहरों की ओर भागने का जी प्रयास करने के बावजूद भी नरेन्द्र उस मछुआरे की बलिष्ठ पकड़ छूट नही पाता।
यह देख दूसरा मछुआरा भी उसे पकड़ लेता है।)

पहला : बाबू---- (शक्तिपूर्वक झकझोरते हुए तेज स्वर में) बा--- बू----

(एक झटके के साथ भावतन्द्रा टूटते ही नरेन्द्र चौंकी मुद्रा में इधर निहारता है।
सागर पर उतरती साध्य लालिमा, उठती-गिरती लहरियो और पास खड़े अपरिचित मछुआरो को देख पलभर नरेन्द्र कुछ नही समझ पाता।)

नरेन्द्र : (चौंककर) हाँ---- ? (ध्यान से इधर-उधर देखते हुए) कौन हो भाई ?

(नरेन्द्र विस्फारित नयनो से मछुआरो को कुछ क्षण एकटक देखता है।
इस बीच छायी खामोशी मे रह-रहकर पथरीली चट्टानो से लहरें टकराने की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती रहीं।)

(सविस्मय) तुम कुछ बोल क्यों नहीं रहे, भाई ?

: (तीखे स्वर में) ऐ बाबू ! ज्यादा बनने की कोशिश मत करो----

: (भर्त्सना करते हुए) जिन्दगी से घबराकर मरने जा रहे थे तुम ?

(नरेन्द्र चौंक पड़ता है।)

: (साश्चर्य) क्या---? मरने----?? (अविश्वास-मुद्रा में) मैं मरने जा रहा था ? नहीं---- नहीं---- मैं इतना कायर नहीं हूँ।

: तो फिर----- इस खामोश अन्धेरे के बीच------ लहरों की ओर क्यों भागे जा रहे थे ?

(पूरी बात सुनकर नरेन्द्र कुछ क्षण सोचने की मुद्रा बनाए बीते क्षणों को याद करने का प्रयास करता है।)

: (इधर-उधर देखकर याद करते हुए खिसियाए स्वर में) माफ करना, भाई ! ख्यालों में डूबे-डूबे ऐसा लगा---- जैसे सागर की लहरों के बीच किसी मत्स्य ने मेरे बाबा को निगल लिया हो। इसी वजह से----

: हम न पकड़ते---- तो जाने क्या हो जाता आज ?

: (मुस्कराते हुए) ख्यालों में इतने डूबे न रहा करो, बाबू ! (मुँह बिगाड़कर) जमाना बहुत खराब चल रहा है।

: (परिहास-भाव से गूढ़ अन्दाज़ मे) अभी तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ शायद ?

(नरेन्द्र अस्वीकृति सूचक सिर हिला देता है।)

: (परिहास भरे स्वर में) तभी----

: बीबी न सही---- माँ-बाप तो होंगे ही न ? उनका तो ख्याल रखते, बाबू !

(नरेन्द्र के मन को एक जोरदार झटका लगता है।)

: (कोमल व आत्मीय स्वर मे) माफ करना, भाई ! मेरी वजह से तुम्हे बहुत परेशानी हुई।

(कोमलभाव से एक-एक कर चारों मछुआरों के कंधे छूते हुए तेजी से घर की ओर चल देता है।

अब तक भी घर न पहुँच पाने की आतुरता नरेन्द्र के तेज कदमों से स्पष्ट झलक रही थी।

मन में अभी भी उठा-पटकियाँ मचा रहे विचारों के बीच खोये नरेन्द्र को पता ही नही चल पाया कि सड़कों, गलियों व चौराहे के पार करते हुए वह कब घर पहुँच गया। भीतरी परिसर [illegible] तक बिखरी अप्रत्याशित खामोशी के बीच कई पुरुष-स्त्रियों की असामान्य गम्भीर हलचल को देख नरेन्द्र घबरा गया। वह कुछ और सोचता या इधर-उधर देखकर स्थिति को समझने की चेष्टा करता, इससे पहले ही [illegible] लपककर उसके पास आ पहुँचे।)

: (हाथ पकड़कर धीमे स्वर मे) अब तक कहाँ थे, बबुआ ? हमने तो पूरा

ही रह गई- 'नियति के हाथों लुटी मांग, सूना ललाट, आशंकित अपेक्षाओं से भरे अनगिनत प्रश्नों को वाहर बिखरने से बचाए रखने को प्रयासरत उदास आँखें, पपड़ाए होंठ, सफेद साड़ी के रूप में मानो जीवन के उड़ गए रंग।'

देखकर मन भीतर ही भीतर कराह उठा उसका।

माँ की एकटक दृष्टि को अधिक देर सह न पाया वह -)

कुछ काम है ?

भुवनेश्वरी : (वीतरागी मुद्रा में) नहीं, बेटे ! (कंधे पर हाथ रखकर) कुछ खा-पीकर ही निकलना बाहर----

(वापस लौटने को मुड़ती है।)

नरेन्द्र : रुको, माँ !

(भुवनेश्वरी के लौटते कदम ठहर जाते हैं।)

(आगे बढ़ माँ का कंधा पकड़ते हुए) क्या------ यही कहने आई थी ?

(कहते हुए गूढ़ अन्दाज़ में अपनी दृष्टि गड़ा देता है माँ भुवनेश्वरी के मुख पर।)

भुवनेश्वरी : (दृष्टि चुराती हुई) क्या अब---- अपने आने-जाने की सफाई भी देनी होगी तुझे ?

नरेन्द्र : (माँ का हाथ पकड़कर अपने माथे पर रखते हुए) तो फिर अब कह--- (एक-एक शब्द पर बल देते हुए) तू क्या---- सचमुच यही कहने आई थी ?

(भुवनेश्वरी हड़बड़ाए भाव से अपना हाथ खींच लेती है।)

भुवनेश्वरी : (मीठी ताड़ना के स्वर में) पागल हो गया है ? तेरी शपथ क्या इतनी सस्ती हो गई रे ?

नरेन्द्र : (माँ के एकदम पास सरककर) तो फिर बतला---- क्या कहने आई थी तू---- मुझे ?

('जैसे अचानक चोरी पकड़ी गई हो' इस भाव से हकबकाई मुद्रा में नरेन्द्र को निहार तुरन्त दृष्टि झुका लेती है भुवनेश्वरी।

भावावेग उमड़ आने के कारण कुछ क्षण बोल नहीं पाती वह।)

(कोमलभाव से माँ का कंधा पकड़ते हुए) बोल न ?

भुवनेश्वरी : (हिचकते स्वर में) बेटा ! कल तेरे बाबा का---- अशौचकाल पूरा हो जाएगा। (रुककर) स्वर्ण और किरण---- दोनों को ही अब---- ससुराल लौटना होगा----। इसलिए उनकी विदाई का समुचित प्रबन्ध करना आवश्यक है।

नरेन्द्र : कुछ दिन और रुक जाती तो ठीक रहता। (रुककर) मौसी बुआ है

तीर्थयात्रा से लौटी नहीं अभी तक। (भावुक स्वर में) ऐसे में तुम अकेली कैसे रह पाओगी---- यहाँ इस घर में ?

भुवनेश्वरी : (लम्बी साँस लेकर) अब तो जैसे भी हो---- अपने ही बूते पर शेष जीवन पूरा करना होगा, पुत्र ।

(पलभर के लिए वे पुन. चुप्पी से घिर जाते हैं।

विचारशील नरेन्द्र के भीतर अनेक-अनेक प्रश्न बुदबुदाने लगते हैं, पर उपयुक्त अवसर न जान वह तुरन्त उन्हें अपने भीतर ही दबा देने का प्रयास करता है।)

ले, पुत्र !

(नरेन्द्र की उत्सुक दृष्टि माँ की ओर उठती, इससे पूर्व ही फुर्ती से पल्लू की गाँठ खोल भुवनेश्वरी अपना स्वर्णहार निकाल नरेन्द्र की हथेली पर रख देती है।)

नरेन्द्र : यह क्या, माँ ?

भुवनेश्वरी : स्वर्ण और किरण की विदाई का प्रबन्ध नही करना है क्या ?

नरेन्द्र : (सविस्मय) तो ?

(हार को हथेली पर से उठाकर प्रश्नमुद्रा में माँ को निहारने लगता है।)

भुवनेश्वरी : (फीकी मुस्कान के साथ) मुंशीजी को अपने साथ सोनी हट्टा ले जा---- वे सब समझा देंगे तुझे।

(सुनते ही सारी बात समझ जाता है नरेन्द्र। छाती धक्क रह जाती है उसकी।)

नरेन्द्र : (स्तब्ध स्वर में) यह तुम क्या कह रही हो, माँ ? (सावेश) इसे क्या बेचोगी तुम ?

भुवनेश्वरी : (दृष्टि चुराती हुई) दो-दो बेटियों की विदाई---- क्या यूँ ही हो जाएगी, रे ? (रुककर) तू क्या---- समधियों का स्वभाव नहीं जानता ? (रुककर) तिस पर इस घर का चढ़ा हुआ किराया नहीं देंगे---- तो सुरसा के मुँह की तरह बढ़ता नहीं चला जाएगा ? उधर राखाल ने मुकदमे की पैरवी को बीच ही में रोक दिया है---- उसका क्या होगा ?

नरेन्द्र : (सव्यथा) घर के मुखिया के चले जाने पर---- कितना कुछ बदल जाता है, माँ ? राखाल चाचा---- इस तरह के हो जाएँगे---- यह तो कभी सोचा भी न था हमने। (रुककर) मगर तू फिक्र न कर---- मुकदमे की पैरवी के लिए---- मैं किसी और वकील से बात करूँगा।

भुवनेश्वरी : ठीक है---- कर लेना बात किसी और वकील से---- (आहत स्वर में) मगर क्या---- समधियों से भी करेगा बात---- कि बहिनों की विदाई के

लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है ? (मुँह बनाकर) कृपा कर यूँ ही ले जाइए इस बार----

नरेन्द्र : (हतप्रभ भाव से) नहीं, माँ ! उसके लिए तो कुछ न कुछ करना ही होगा।

भुवनेश्वरी : तो क्या करेगा---- बोल ? गिड़गिड़ाकर भीख माँगेगा किसी से ?

नरेन्द्र : (क्षुब्ध स्वर में) तुमने---- बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त के बेटे को आखि समझा क्या है, माँ ? (अपने आवेश को संयत करता हुआ) मगर---- चिन्ता न कर---- मैं किसी अच्छे कामकाज की तलाश में हूँ। मिलते ही कर लूँगा। देखना---- जल्दी ही सब ठीक हो जाएगा----

भुवनेश्वरी : तेरे सब ठीक हो जाने तक---- हमारे कर्जदार रुके नहीं रहेंगे, बेटे !

नरेन्द्र : (चौंककर) क्या ? हमारे कर्ज़दार ?? हम पर कर्ज़ है किसी क ???

भुवनेश्वरी : (व्यथा भरी निःश्वास के साथ) हाँ, बेटे !

नरेन्द्र : (अविश्वासभाव से) मगर बाबा ने तो---- बैरिस्टरी से खूब कमाया है उसका क्या हुआ, जो----

भुवनेश्वरी : (बात काटकर) तू क्या---- अपने पिता के उदार स्वभाव को नहीं जानत रे ? (सगर्व) तेरे पिता ने दोनों हाथों से कमाया---- तो चार हाथों से उसे गरीबों, असहायों और जरूरतमन्दों में बाँटा भी है। ऐसा व्यक्ति संचय नहीं कर सकता---- कर्ज़ ही छोडकर जाता है---- और तेरे बाब इसके अपवाद नहीं थे।

(नरेन्द्र गहरे सोच में डूब जाता है।)

क्या सोचने लगा तू ?

नरेन्द्र : (सव्यथा) सोच रहा हूँ---- आखिर मुझसे यह सब क्यों छुपाया गया ?

भुवनेश्वरी : छुपाया नहीं गया, पुत्र ! (लम्बी साँस लेकर) हाँ---- इस बात को---- न तो तुम्हें कभी समझाया गया---- और न ही सब कुछ देखकर भी तूने समझने का प्रयास किया।

नरेन्द्र : माँ !

भुवनेश्वरी : घर में जो भी कुछ होता था---- सभी के सामने ही होता था, बेटे ! (रुककर) तू क्या सोचता है- ये सारी बातें तेरे बाबा ने मुझे समझाई थी ? उन्होंने तो किसी से कुछ नहीं कहा---- सब कुछ स्वय ही झेलते रहे। (रुककर) मैं खुद ही सब समझती रही-- (भावुक स्वर मे) क्यों हमें अपना आलीशान घर छोडकर किराए के छोटे-से मकान में चला आना पडा ? बग्घी और कोचवान सहसा क्यों हटा दिए गए ? क्यों बच्चों की देखभाल के लिए दो-दो तीन-तीन नौकरों के स्थान पर एक भी नही रहा ?

(नरेन्द्र गर्दन झुकाए चुपचाप सुनता रहता है।)

(कंधे पर हाथ रखकर दुलार भाव से) ये सब बातें समझाने की नहीं---- स्वयं समझने की बातें थीं, बेटे ।

नरेन्द्र : (पछताने के स्वर में) मुझे आश्चर्य है, माँ । इस घर में रहते हुए भी मैं यह सब क्यों नहीं देख-समझ पाया---- ?

भुवनेश्वरी : (उपालम्भ के स्वर में) तू इस घर में रहता ही कब था, पुत्र ? (रुककर) शरीर से यहाँ होते हुए भी तू मन से इस घर मे रहा ही कब ? तूने तो अपना एक अलग ही संसार बसा लिया था---- जिसमें केवल तू ही था अकेला---- केवल तू ही। हम लोगों के लिए तूने उसमें स्थान छोड़ा ही कब था ? तेरा सारा ध्यान तो---- पहले ब्रह्मसमाज की मण्डलियों और साधु-संन्यासियों पर था---- और अब दक्षिणेश्वर के उस ठाकुर पर लगा हुआ है। उसे ही तू---- अपना सब कुछ मान बैठा है।

नरेन्द्र : (सव्यथा) मुझे अब और लज्जित न करो, माँ । तुम फिक्र न करो---- मैं जल्दी ही कोई न कोई कामकाज करने लगूँगा। (भावुक स्वर मे) तुम्हारी पीडा को मैं अच्छी तरह जानता हूँ----

भुवनेश्वरी : (चैन की साँस लेती हुई आश्वस्त भाव से) तो फिर---- पुत्र के रूप में अपने स्वर्गीय पिता के स्वप्न साकार कर---- अपना 'पुत्र–धर्म' निभा----

नरेन्द्र : मैं इसके लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करूँगा, माँ।

भुवनेश्वरी : (अचानक खिले मन से) प्रयत्न की कोई आवश्यकता नही है, बेटे । (एकदम पास आकर ममत्वभाव से नरेन्द्र के कपोल सहलाती हुई) तू बस---- केवल 'हाँ' कर दे----

(अपनी याचना भरी दृष्टि झोली की तरह पुत्र के आगे पसार देती है।)

नरेन्द्र : (चौंककर) क्या मतलब ?

भुवनेश्वरी : (स्वर मे अधिक से अधिक कोमलता लाकर) तेरी अन्नदा मौसी की निगाह मे एक बहुत अच्छी लड़की है, बेटे ! अत्यन्त ही सुंदर और सुशील। (रुककर) कलकत्ता के रामचन्द्र दत्त की पुत्री---- शिवागी---- यानि कि पार्वती ! इधर तू----, वीरेश्वर महादेव की कृपा का प्रसाद। (कधे पर हाथ रखकर) जानता है---- तेरी पीशी बूआ ने पहले तेरा नाम वीरेश्वर ही रखा था।

(नरेन्द्र को माँ की यह बाते बिल्कुल भी अच्छी नही लग रही थी, फिर भी वह उन्हे शालीनभाव से सुने जा रहा था।)

(मीठी कल्पनाओ में खोती हुई) तू वीरेश्वर---- और वह शिवागी--- सचमुच बहुत दुर्लभ जोडी होगी तुम्हारी----

नरेन्द्र : (अपनी झुँझलाहट को रोकते हुए) माँ । अभी मेरे अपने निर्वाह का साधन ही नहीं है मेरे पास---- और तू---- घर में एक और नया प्राणी जोड़कर खर्च में वृद्धि करने की बात करती है ?

भुवनेश्वरी : (सोत्साह) उसकी तू चिन्ता न कर, बेटे । उसके पिता बहुत सम्पन्न हैं। (रुककर) बस---- यूँ समझले---- बहू के आते ही---- हमारी सारी आर्थिक कठिनाइयाँ मिट जाएँगी----

नरेन्द्र : (उपहास भाव से) वाह माँ । वाह---- !

(भुवनेश्वरी नरेन्द्र के सहसा बदले रुख से चौंककर उसका मुँह देखने लगती है।)

उस धन से------ क्या पूरे जीवन की आर्थिक कठिनाइयाँ मिट जाएँगी हमारी ? (सव्यंग्य) क्या तात्कालिक समाधान के लिए तू मेरे पाँवों में स्थायी बेड़ियाँ डाल देना चाहती है ? कैसी माँ है तू भी ?

भुवनेश्वरी : नहीं, बेटे । यह तात्कालिक नहीं---- स्थायी समाधान है।

नरेन्द्र : सो कैसे ?

भुवनेश्वरी : (विशेष अन्दाज में) वे लोग तेरी पढ़ाई पूरे होने---- और तेरे बैरिस्टर बन जाने तक का सारा खर्च करेंगे---- और जब तू अपने पाँवों पर खड़े होकर बाबा की तरह कमाने लगेगा---- तो फिर समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाएँगी। (मुँह बनाकर) फिर भला हम क्यों उनका खर्च करवाएँगे ?

नरेन्द्र : (सावेश) समझा---- तो तुम ऐसी मीठी-मीठी बातें करके---- मेरी जीवन नैया को भवसागर में पूरी तरह से डुबो देने के सपने देख रही हो ?

भुवनेश्वरी : (मीठी ताड़ना के साथ) चुप कर। ऐसा अशुभ मत बोल---- (प्यार से नरेन्द्र का हाथ पकड़कर) बस---- तू 'हाँ' कर दे, बेटे । तुझे मेरी शपथ----

(कहती हुई नरेन्द्र का हाथ फुर्ती से अपने सिर पर रखने का प्रयास करती है, पर वह झटके से अपना हाथ माँ के हाथ से खींचकर अलग कर लेता है।)

(सक्रोध) नरेन्द्र ।

नरेन्द्र : (झुँझलाकर) तुम व्यर्थ के सपने देखना बन्द करो, माँ ! (दृढ़ शब्दों में) मुझे विवाह नहीं करना है---- किसी भी स्थिति में नहीं----

भुवनेश्वरी : (टूटे स्वर में) नरेन्द्र ।

(आँखों में आँसू छलक आते हैं।)

(पल्लू से आँसू पोंछती हुई) अच्छी तरह जान लिया है मैंने---- मेरे जीवन में सुख लिखा ही नहीं है। (व्यंग्यभाव से नरेन्द्र की ओर आँखें तरेरती

हुई) तू भी क्या करे बेचारा ?

(आँखों में हताश आँसुओं का उफनता तूफान लिए भुवनेश्वरी तेजी से बाहर निकल जाती है।

हाथ में हार तथा मन में गहरा उद्वेलन लिए नरेन्द्र हतप्रभ भाव से खड़ा रह जाता है।

ठीक इसी क्षण सुयश आ धमकता है।

चौंककर नरेन्द्र हार को अपनी जेब में डाल अपने को एकदम सहज बना लेता है।)

सुयश : (साश्चर्य) अरे ! तू घर बैठा है---- गया नही अपने नए काम पर ?

नरेन्द्र : (भारी मन से) गया था---- पर लौट आया---- नही करना मुझे वो काम----

सुयश : क्यों ? (रुककर) इतनी मुश्किल से उसे राजी किया और तू है कि----

नरेन्द्र : (बात काटकर) वह मुझसे अश्लील और बाजारू पुस्तकें लिखवाना चाहता है---- सो मैं नही लिख सकता---- सुयश !

सुयश : तो क्या हुआ ? कौन इससे तेरा मन मैला हुआ जा रहा था। तुझे तो बस---- अपने पैसों से मतलब।

नरेन्द्र : नहीं, सुयश ! मैं अपनी भावनाओं के विरुद्ध कुछ भी नहीं करूँगा---- चाहे मुझे भूखों ही क्यों न मरना पडे। (घूरकर) क्या रुपया-पैसा ही सब कुछ है ?

(सुयश उपहासभरी मुद्रा बनाता है।)

सुयश : फिर अब क्या करेगा ?

नरेन्द्र : कोई और काम तलाशूंगा। (रुककर) एक जगह है---- अनुवाद का काम----

सुयश : कही जा रहा था ? मैं तो तेरे दक्षिणेश्वर के अनुभव सुनने आया था----

नरेन्द्र : दक्षिणेश्वर के अनुभव फिर कभी सुयश ! (कंधा पकड़कर) अभी मुझे मुंशीजी से मिलना है बहुत जरूरी----

(मुँह बनाए हुए सुयश नरेन्द्र के साथ बेमन से चल देता है।)

□

अंक : दो

दृश्य : छह

स्थान : दक्षिणेश्वर स्थित ठाकुर का आवास

समय : दोपहर

(जगन्माता जगत्तारिणी माँ काली के भव्य मन्दिर एवं पंचवटी उद्यान से लगभग समान दूरी ' सघन हरियाली के बीच स्थित ठाकुर के आवास कक्ष के बाहरी बरामदे में भूमि पर ही आसन बिछाए विचारमग्न अवस्था मे बैठे ठाकुर।

पास ही बैठा उनकी गम्भीर मुखमुद्रा को निहारता नरेन्द्र तथा ठाकुर का ही एक शिष्य शिवानन्द।

कुछ क्षण की वैचारिक चुप्पी की बोझिलता को यदा-कदा भग करता सघन-सुशीतल हरियाली के बीच गूज उठता किसी पक्षी का मधुर स्वर।)

ठाकुर : (सहसा नेत्र खोलते हुए) सारा पाप 'वैयक्तीकरण' मे है तथा सारा पुण्य 'सार्वभौमता' में है, नरेन्द्र ।

नरेन्द्र : मानता हूँ, ठाकुर ! और जानता भी हूँ---- 'सार्वभौमता' का महत्व। (रुककर) किन्तु, 'सार्वभौमता' के प्रति आस्था के बावजूद भी मेरा मन जाने क्यों 'व्यक्ति' की खोज में व्याकुल हो उठता है---- एक ऐसे व्यक्ति की खोज में जो मेरे भीतर हलचल मचाते प्रश्नों, तर्कों---- और द्वन्द्वों के बीच से निकालकर 'सत्य' से मेरा साक्षात् करवा सके।

ठाकुर : (परिहास भाव से) तो---- यूँ क्यों नही कहता कि---- तुझे गुरु चाहिए----
(मुस्कराते हुए नरेन्द्र की ओर देखने लगते है।)
तुझे ब्रह्मसमाज से कोई मार्ग नहीं मिला ?

नरेन्द्र : वहाँ मुझे समाजसुधार की दिशा तो मिली, ठाकुर । किन्तु---- ईश्वर की ओर एक डग भी बढ़ाने की सम्भावना दृष्टिगत नही हुई।

ठाकुर : (सस्मित स्वर मे) और---- वहाँ का मोहभंग होने पर---- तुझे इतने दिनों बाद दक्षिणेश्वर याद आया ? क्यों ?

नरेन्द्र : नहीं। ब्रह्मसमाज की मण्डलियों में जाना मैंने छोड़ा नहीं है, ठाकुर ! (रुककर) मैं उसके 'सामाजिक समरसता' और 'मानवतावादी' सिद्धान्तों का अभी भी कायल हूँ---- किन्तु इतना भर ही तो मेरा अभीष्ट नहीं है।

ठाकुर : तू फिक्र न कर। तेरा यह कार्य मैं करूँगा। मैं हाथ पकडकर तुझे 'सत्य' के पास ले चलूँगा---- उससे तेरा साक्षात् करवाऊँगा----

नरेन्द्र : **(आश्चर्य भाव से ठाकुर की ओर देखते हुए मन ही मन)** लो---- ये तो गुरु बनने को पहले से ही तैयार बैठे हैं। **(सोचते हुए)** लगता है---- लोगों ने ठीक ही कहा था---- ठाकुर एकदम सनकी है---- और पागल भी। तिस पर पढ़े-लिखे भी नहीं है। क्या ऐसा व्यक्ति 'गुरु' बनने योग्य है ?

(तभी मन में विचारों की दूसरी लहर आई -)

(सोचते हुए) तो क्या मैं यहाँ---- ठाकुर की पढ़ाई-लिखाई की थाह लेने आया हूँ---- या 'ईश्वर' को पाने ? 'ईश्वर' को पाने के लिए क्या पढ़ा-लिखा होना जरूरी है---- या कि अनपढ़ या कम पढे को ईश्वर नही मिलते ? नहीं---- नहीं---- मुझे इन दोनों में किसी एक आवश्यकता को स्वीकार करना होगा---- अन्यथा----

ठाकुर : **(नरेन्द्र के विचारों का क्रम तोड़ते हुए)** अरे ! तू किस सोच में पड़ गया ?

नरेन्द्र : **(चौंककर तत्क्षण सहज बनते हुए)** मैं सोच रहा था---- 'सत्य' का साक्षात्---- क्या सचमुच इतना आसान है---- जितनी आसानी से आपने कह दिया ?

(नरेन्द्र की ऐसी आशंका पास बैठे शिवानन्द को अच्छी नही लगी।)

शिवानन्द : तुम---- गुरुदेव की सिद्धियों से परिचित नही हो, नरेन्द्र ! इसीलिए ऐसा विचार तुम्हारे मन में आया----

ठाकुर : **(निषेधभाव से तर्जनी उठाकर)** नरेन्द्र जिज्ञासु है, शिवा ! यह मैंने प्रथम भेंट में जान लिया था। **(रुककर)** तुम्हें उसके प्रश्न को अन्यथा नही लेना चाहिए।

शिवानन्द : पर, गुरुदेव----

ठाकुर : 'सत्य' जब तक अज्ञेय है, 'रहस्य' एवं 'दुरूह' ही प्रतीत होता है, जबकि जान चुकने पर वही अत्यन्त सहज एव सुगम। यह बात 'न जाने हुए' को अविश्वसनीय भी लगती है। **(नरेन्द्र की ओर स्नेह भाव से निहारते हुए)** अभी उस स्थिति में पहुँचने मे नरेन्द्र को कुछ समय लगेगा---- और प्रयत्न भी करने होंगे।

नरेन्द्र : प्रयत्नशील तो मै पहले से ही हूँ----

ठाकुर : तो जा---- जगन्माता के दर्शन कर आ।

नरेन्द्र : (परिहास भाव से) जगन्माता के---- या जगन्माता की प्रतिमा के ?

ठाकुर : पहले---- 'अस्ति-नास्ति' की दुविधा से निकल---- उत्तर स्वतः ही मिल जाएगा।

नरेन्द्र : यह मेरी 'जिज्ञासा' है, ठाकुर ! 'दुविधा' नहीं----

ठाकुर : 'जिज्ञासा' को जब मार्ग नही मिलता---- तो वह 'दुविधा' बनकर आड़े आ जाती है। इसीलिए कहता हूँ---- (गूढ़ अन्दाज़ में) पहले जगन्माता के दर्शन कर आ----

नरेन्द्र : नहीं---- मैं 'प्रतिमा' के आगे माथा नहीं नवाऊँगा----

ठाकुर : (परिहास भाव से) 'प्रतिमा' के आगे---- या 'जगन्माता' के आगे ?

नरेन्द्र : 'प्रतिमा' में मुझे विश्वास नही---- और 'जगन्माता' से कभी---- साक्षात् हुआ नहीं।

(ठाकुर हँस पड़ते है।)

ठाकुर : यदि तुम 'जगन्माता' में विश्वास नहीं करते---- तो कहो---- फिर यहाँ क्यों आते हो ?

नरेन्द्र : क्या यहाँ आने के लिए---- मेरे 'विश्वास' को---- आपके 'विश्वास' का अनुगामी होना पड़ेगा ?

ठाकुर : (मुस्कराते हुए) यह प्रश्न तू---- अपने आपसे क्यों नही पूछता ?

नरेन्द्र : (परिहास-मुद्रा मे) क्यों---- आपको प्रश्नों से भय लगता है ?

ठाकुर : जीवन तो अपने आप में---- स्वयं ही एक प्रश्न है रे ! (रुककर) उससे भला डरना कैसा ?

(कुछ क्षण की चुप्पी मे किसी पक्षी के बोल उठने के साथ ही साथ अचानक नगाड़ों की गूंज के बीच दोपहर के भोग के घण्टे बज उठते है।

ठाकुर आँख मूँद अपना गला-सहलाने लगते है।)

शिवानन्द : (चौंककर) गले मे कष्ट हो रहा है, गुरुदेव ? (याद कर) बातों ही बातों में आज न तो आपने औषधि पी---- और न ही अब तक भोग पाया। श्री माँ आज अवश्य मुझ पर कुपित होंगी----। अभी लाता हूँ (उठते हुए) हृदय का भी अब तक पता नही----

(तेज़ी से एक ओर चल देता है।

ठाकुर उससे कुछ कहना चाहकर भी गले के खरखरा उठने के कारण कह नही पाते।

वे फिर अपने हाथ से गला सहलाने लगते है। इस बीच उन्हें थोड़ी खाँसी भी आती है।

नरेन्द्र उठकर भीतर से पानी लाता है।)

नरेन्द्र : (जल-पात्र ठाकुर की ओर बढ़ाते हुए) थोड़ा पानी पी लीजिए-- ठाकुर !

(नरेन्द्र के हाथ से जल-पात्र लेकर ठाकुर 'गट्गट्' कर पानी पीने लगते है, पर पाँच-सात घूँट से अधिक निगल नहीं पाते।
कण्ठ-पीड़ा स्पष्ट रूप से चेहरे पर झलक आती है। वे हाँफते हुए जल-पात्र को वही एक ओर रख देते है तथा बरामदे की दीवार से पीठ टिका पुन: अपने नेत्र मूंद लेते हैं।)

(सामने की ओर देखने हुए) शिवा अभी तक नहीं आया---- आपकी औषधि लेकर----

ठाकुर : (नेत्र मूंदे-मूंदे ही) आ जाएगा---- तब तक तू कुछ गा, नरेन्द्र । (रुककर) भीतर से तानपूरा उठा ला----

नरेन्द्र : (उठते हुए) जी, ठाकुर !

(भीतर से तानपूरा लाकर गाने बैठ जाता है।)

(तानपूरे के तारो को व्यवस्थित करते हुए)

'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
कामक्रोध को पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा सबद रसाल।
भरम भरयों मन भयो पखावज, चलत कुसगत चाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर, नानाविध दे ताल।
माया को कटि फैंटा बांध्यो, लोभ तिलक दे भाल।
कोटिक कला काँछि देखराई, जल थल सुधि नहिं काल।
'सूरदास' सबै अविद्या, दूरि करौं नन्दलाल॥'

(दीवार से पीठ टिकाए नेत्र मूंदे ठाकुर तन्मयभाव से नरेन्द्र का मधुर भावपूर्ण गायन सुनते रहते है।)

ठाकुर : (भावमग्नता मे स्वय से ही बातें करते हुए) अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल---- नाचना तो होगा ही---- जब तक वो नचाता रहेगा---- (रुककर) नचा---- देखते हैं---- कौन थकता है पहले ?

(अचानक ठाकुर को फिर तेज खाँसी उठती है और वे गला व छाती थाम खाँसते-खाँसते बेहाल होने लगते हैं।
नरेन्द्र तानपूरा रख उन्हे सम्भालता है।
ठीक इसी क्षण सामने से शिवानन्द दाशरथि सान्याल के साथ ठाकुर की औषधि एव भोग प्रसादी ले उसी ओर आता दीख पड़ता है।)

नरेन्द्र : (एक दृष्टि ठाकुर पर डाल शिवानन्द की ओर देखते हुए ऊँचे स्वर मे) शिवा । शिवा ।। जल्दी आ----

(स्थिति को भाँप शिवानन्द दाशरथि सान्याल के साथ तत्क्षण भागते हुए वहाँ आ पहुँचता है।
सब मिलकर ठाकुर को सम्हालने है।)

जल्दी औषधि पिला ठाकुर को----

(शिवानन्द औषधि वाला पात्र ठाकुर की ओर बढ़ाता है।)

शिवानन्द : (औषधिपात्र ठाकुर के मुँह से लगाकर) औषधि पी लीजिए, गुरुदेव ।

(खाँसी के बीच रुक-रुककर बहुत मुश्किल से ठाकुर औषधि पी पाते हैं।)

नरेन्द्र : (ठाकुर की पीठ सहलाते हुए) शिवा ! ठाकुर को भीतर सुलाना ही ठीक रहेगा---- (रुककर) दाशरथि---- तू भीतर जाकर ठाकुर की शैया ठीक कर----

ठाकुर : (हाँफते हुए) नही---- मैं यही ठीक हूँ।

(हाँफते हुए सभी के सहारे से दीवार से ठीक तरह पीठ टिकाकर बैठ जाते है।

इस समय तक खाँसी रुक जाने के कारण ठाकुर कुछ-कुछ सम्हलने लगते हैं।)

(नेत्र खोलते हुए) देखा नरेन्द्र ! अपने संगीत का जादू ? (परिहास-मुद्रा में) उसका नचाना बंद होने से पहले ही खाँसी नचाने लगी हमें ?

(हँसने का प्रयास करते हैं, पर पुनः खाँसी आ जाने के भय से हस नही पाते ठाकुर।)

दाशरथि : गुरुदेव ! अधिक बोलने व परिश्रम के लिए डॉक्टर ने मना किया है आपको !

ठाकुर : (दाशरथि की बात पर ध्यान न देकर शिवानन्द की ओर देखते हुए) शिवा---- भोग–प्रसाद लाया हैं न---- ? इधर दे----

(हाथ बढ़ाकर शिवानन्द के हाथ से भोग प्रसाद का पात्र झपट लेते हैं।)

शिवानन्द : (ठाकुर का हाथ पकड़कर) नहीं, गुरुदेव ! श्री माँ ने आपके लिए दलिया बनाकर भेजा है---- आप वही लें----

ठाकुर : नही---- मैं जगन्माता के भोग–प्रसाद का भात ही खाऊँगा---- मेरे साथ नरेन्द्र भी खाएगा---- ले नरेन्द्र ! तू भी खा----

(हाथ पकड़कर नरेन्द्र को अपने पास बैठा भोगपात्र उसके सामने कर देते हैं।)

खा---- मैं भी खाता हूँ----

दाशरथि : ठाकुर ! डाक्टर ने भात न खाने को कहा है----

ठाकुर : (भात खाते हुए) चिन्ता न कर---- जगन्माता के भात से कोई भी हानि नहीं होगी मुझे---- (नरेन्द्र की ओर आँखें तरेरकर मीठी ताड़ना के साथ) सुना नहीं तूने ? खा--- न---

(नरेन्द्र विवश भाव से भात खाने को कौर जैसे ही मुँह की ओर बढ़ाता है, उसकी कल्पना में रसोईघर के डिब्बो में लगभग बीत चुके सामान के साथ माँ भुवनेश्वरी तथा दोनों भाइयों के चेहरे उभर आते हैं।

हाथ का कौर जहाँ का तहाँ रह जाता है।)

(चौंककर) क्या हुआ, रे ? खाता क्यों नही ?

नरेन्द्र : (अनमने स्वर में) भूख नहीं है, ठाकुर । चलते समय माँ ने ठूँस-ठूँस कर खिला दिया था मुझे--- (रुककर) आपकी जगन्माता का अनादर न हो-----

और आपकी अवज्ञा का पाप भी न लगे-- इसलिए थोडा-सा प्रसाद ले लेता हूँ।

(हाथ का भात पात्र में डाल थोड़ा-सा भात खा जाता है। ठाकुर इधर-उधर ध्यान दिए बिना दोनों हाथों से भात खाते रहते है। इस प्रयास मे कुछ भात मुँह में जाता है, कुछ मुँह के बाहर लग जाता है तो कुछ पात्र में गिरता जाता है। नरेन्द्र ठाकुर का यह रूप विस्मित दृष्टि से देखता रहता है।)

नरेन्द्र : (मन ही मन) लोग ठीक ही कहते हैं---- ठाकुर सनकी भी है और पागल भी----

(अचानक आगे-आगे हृदय का तथा पीछे-पीछे तेजी से प्रतापचन्द्र हाजरा का प्रवेश -)

हृदय : (अधीर भाव से) मामा ठाकुर ! मामा ठाकुर !!

(ठाकुर सहित सभी लोग हृदय के आतुर स्वर से चौंककर उसी ओर देखने लगते है।

ठाकुर का भात लिए हाथ पात्र का पात्र मे ही रह जाता है।)

ठाकुर : (सविस्मय) क्या बात है, हृदय ? ऐसी अधीरता----

(तेजी से आने के कारण हाँफता हुआ हृदय एक क्षण कुछ भी बोल नही पाता।)

हृदय : (हाँफते हुए) गज़ब हो गया, मामा ठाकुर।

ठाकुर : क्या हुआ ? (सशंक स्वर मे) जगन्माता मंगल करे----

(प्रतापचन्द्र हाजरा अल्हड़भाव से पान चबाता रहता है।)

हृदय : मथुराबाबू ने चाण्डालों की बस्ती को हटाने के लिए उन पर बल–प्रयोग किया है--

ठाकुर : (चौंककर) बल–प्रयोग ? किन्तु---- रानी माँ के सामने तो कुछ और ही तय हुआ था---- फिर----

हृदय : (बात काटते हुए) मथुराबाबू भला किसी की सुनते हैं ?

प्रतापचन्द्र : (पान चबाते हुए) बड़े लोगों की ज़िद ऐसी ही होती है, गदाधर ! (उपहास भाव से) मैंने पहले ही न कहा था तुझसे---- बड़े लोगों से मेल मत कर---- नहीं निभ पाएगी उनसे हमारी। (मुँह बनाकर) मगर---- तू मानता है किसी की ? बड़ा ज्ञानी समझता है अपने को--- (मुँह बिगाड़कर) हुँअ्----

(पाँव पटकता हुआ चलने को उद्यत् होता है।)

(जाते-जाते) अरे ! जमाने का अनुभव भी कोई चीज होती है---- (नरेन्द्र की ओर मुँह करके) क्यों---- होती है कि नहीं ? (घूरते हुए) बोल----

(नरेन्द्र हतप्रभ-सा उसे आँखें फाड़े देखता रहता है।

नरेन्द्र से निगाहें मिलते ही प्रतापचन्द्र हाजरा पलभर के लिए ठिठक जाता है न पहचान पाने के कारण।)

(तीखी दृष्टि गड़ाकर) तू---- ? (याद करते हुए) तू---- वो ही तो छोकरा है न---- सिरफिरा---- (सोचते हुए) क्या नाम है तेरा---- नरेन्द्र----

(नरेन्द्र अपनी विस्मित दृष्टि प्रतापचन्द्र हाजरा से मिलाए रखता है।)

(मुँह बिगाड़ते हुए) जाने कैसे-कैसे लोगों को जमा कर लेता है---- ये गदाधर भी----

(पाँव पटकता-बड़बड़ाता वहाँ से चल देता है।

नरेन्द्र क्रोध से जाते हुए हाजरा को घूरता रहता है। उसकी बलिष्ठ भुजाएँ फड़कने लगती है, पर वह अपने को संयत कर लेता है।)

शिवानन्द : (सावेश) गुरुदेव ! प्रतापचन्द्र हाजरा की अभद्रता दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है---- तिस पर रोज-रोज आपका अपमान---- हमसे देखा नहीं जाता। (रुककर) किसी दिन गर्दन पकड़कर बाहर फैंक देंगे---- हम उसे दक्षिणेश्वर के----

ठाकुर : (शान्त भाव से मुस्कराते हुए) इस तरह उत्तेजित होने से काम नहीं चलता, शिवा ! (रुककर) और फिर---- प्रताप---- मन का उतना बुरा नहीं है---- (सहास्य) बस---- थोड़ा-सा मुँहफट अवश्य है।

(सहसा पास खड़े हृदय पर दृष्टि पड़ते ही छूटी हुई बात का ध्यान आ जाता है ठाकुर को।)

(उत्सुक भाव से) आगे कह, हृदय ! फिर क्या हुआ ?

हृदय : सुना है---- अनेक घर उजाड़ डाले गए हैं---- जहाँ-तहाँ झोंपड़ियों में आग लगा दी गई है---- अनेक लोग आहत भी हुए है।

(ठाकुर के मन मे उठे भावावेश के चिह्न स्पष्ट रूप से उनके मुख पर उभर आते है -)

नारियों और बच्चों तक का भी ख्याल नहीं किया गया, मामा ठाकुर !

ठाकुर : (अविश्वास भाव से) क्या ?

(आवेश मे उठ खड़े होते है ठाकुर। यह भी भूल जाते है कि अभी कुछ क्षण पूर्व तबियत बिगड़ गई थी।

नरेन्द्र व शिवानन्द रोकते है, पर वे मानते नही।)

(साश्रु नयनों और रुंधे कण्ठ से) नारी पर भी अत्याचार---- ? उस नारी पर---- जिसके भीतर स्वयं जगन्माता निवास करती है ? (भावावेश में) निरीह आकांक्षाओं पर महत्त्वाकांक्षाओं का यह ताण्डव आखिर कब तक चलता रहेगा, माँ ? (इधर-उधर देखते हुए) इसे रोकना होगा---- रोकना ही होगा---- अन्यथा विनाश की यह तीव्र आँधी मानवता के वटवृक्ष की जड़ों को झकझोर कर रख देगी----

(आवेश मे गंगाघाट की ओर बढ़ते है।)

नरेन्द्र : (चौंककर) आपकी तबियत ठीक नही है, ठाकुर ।

ठाकुर : अधिक विचार का समय नही है। चलो----

नरेन्द्र : कहाँ ?

ठाकुर : हमें उन निरीह चाण्डालों की सेवा में---- अपने उच्चताजन्य सस्कारों को गलाकर लय कर देना होगा---- जिन्हें महत्त्वाकाक्षाओं के रथ ने कुचलकर रख दिया है।

शिवानन्द : (साश्चर्य) चाण्डालों की सेवा ? यह आप क्या कह रहे हैं, गुरुदेव ?

हृदय : आपकी तबियत ठीक नही है, मामा ठाकुर ।

दाशरथि : इस पर मथुरा बाबू क्या कुपित नही होगे ? रानी रासमणिजी क्या----

ठाकुर : (बात काटकर) न मथुराबाबू हमारे भाग्यविधाता हैं, दाशरथि । और न---- रानी माँ । (हाँफते हुए) सभी उपासनामार्ग मानव कल्याण और उसकी सेवा पर जाकर ही समाप्त होते हैं। सच्चे आध्यात्मिक विकास के लिए समाजसेवा अत्यावश्यक है। मानव–सेवा ही सच्ची ईश्वर–पूजा है---- चलो----

हृदय : (रोकते हुए) मामा ठाकुर ।

(ठाकुर किसी की भी बात पर ध्यान दिए बिना गंगाघाट की ओर चल देते है।

हृदय, शिवानन्द व दाशरथि तेजी से उनका अनुसरण करते है।)

नरेन्द्र : (मन ही मन) विचित्र हैं ठाकुर। इनके 'आचरण' को 'तर्क' से समझ पाना सम्भव नही है किसी के भी लिए----

(तेजी से पीछे-पीछे चल देता है।)

☐

अंक : तीन
दृश्य : एक

स्थान : दक्षिणेश्वर का पंचवटी उद्यान
समय : अपराह्न

(उद्यान क्षेत्र मे अत्यधिक पास-पास खड़े अनगिनत अश्वत्थ, बिल्व आमलक, अशोक एवं वटवृक्षो के विस्तार के कारण 'पंचवटी' नाम से पहचाने जाने वाले इस स्थान पर सघन हरियाली के बीच सहज ही सघन कुंज जैसा दृश्य बन गया है। यहाँ तक कि बेचारी धूप को भी भीतर तक पहुँचने के लिए काफी कुछ 'द्रविड़ प्राणायाम' करना पड़ता है।
हरियाली के घने समूहो मे इधर-उधर भटक रही पगडण्डियाँ तथा गंगा तट व समीपस्थ मदिर की ओर संकेत करता एक सीधा-सरल मार्ग।
वातावरण में यत्र-तत्र मिठास घोलते विविध पक्षियों के मधुर कलरव के बीच एक ऊँचे स्थान पर माथे पर पट्टी बाँधे अपने कुछ शिष्यो के साथ बतिया रहे ठाकुर-)

शिवानन्द : नरेन्द्र आपसे कितने-कितने तर्क करता है, गुरुदेव ! आपको बुरा नहीं लगता ?

ठाकुर : नहीं, रे ! उल्टे प्रसन्नता ही होती है। (रुककर) सच पूछो--- तो मैं--- तुम लोगों की अधश्रद्धा से कभी-कभी उकताने लगता हूँ--- और जगन्माता से प्रार्थना करता हूँ--- माँ ! ऐसा कोई मेरे पास भेज--- जो मेरी उपलब्धियों पर शका करे।

दाशरथि : 'शका' से क्या---- 'आस्था' आहत नही होती, गुरुदेव ?

ठाकुर : नही, पुत्र ! 'जिज्ञासा' प्रेरित 'शंका' से 'आस्था' आहत नही---- पुष्ट ही होती है, किन्तु उसके लिए पहले 'सुदृढ़ तर्क' की सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं।

प्रतापचन्द्र : (बीच ही मे सहास्य) तो ठीक है---- रानी रासमणि से कहकर बनवाए देते हैं---- दक्षिणेश्वर में सीढियाँ---- (परिहास भाव से) फिर चढ़ते-उतरते रहना उन पर---- (नाटकीय अन्दाज़ में) आगे-आगे ठाकुर--- और

पीछे-पीछे शिष्यमण्डल----

(ठहाका लगाकर हँस पड़ता है।

प्रतापचन्द्र हाजरा को स्वयं अपनी ही बात पर अप्रासंगिक रूप से ठहाका लगाकर हँसते देख ठाकुर गूढ़भाव से मुस्करा देते है, जबकि अन्य सभी प्रतिक्रियाविहीन दृष्टि से उसे निहारते रहते है।)

ठाकुर : (सस्मित भाव से अपने शिष्यों की ओर निहारकर) · यहाँ तो 'आस्था' पहले से ही पुष्ट है। ऐसे लोगों के साथ उन सीढ़ियों पर चढकर---- मुझे भला क्या मिलेगा, रे ? (गूढ़ अन्दाज़ में) वहाँ तो तेरी ही आवश्यकता होगी मुझे----

(अपनी तीखी दृष्टि प्रतापचन्द्र हाजरा के चेहरे पर गड़ा देते है।)

प्रतापचन्द्र : (मुँह बनाकर) ना बाबा---- ना । मै नहीं चढ़ूँगा तुम्हारे साथ---- वो सीढ़ियाँ। (नाटकीय मुद्रा के साथ) तुम्हारा क्या---- ऊपर ले जाकर---- नीचे धकेल दो कहीं।

ठाकुर : (सहास्य) घबरा मत। उन सीढ़ियों से लुढ़ककर भी तू सीधा---- जगन्माता के चरणों में ही गिरेगा जाकर----

प्रतापचन्द्र : इससे मुझे क्या मिलेगा ?

ठाकुर : स्वर्ग।

प्रतापचन्द्र : (चौंककर) क्या मतलब ?

ठाकुर : (सहसा भावुक होते हुए) जगन्माता के चरणों में जो सुख है--- वह और कहाँ ? (रुककर) जानता है---- पैगम्बर हजरत मौहम्मद ने भी अपनी हदीस में एक स्थान पर कहा है---- (भावमग्न स्वर मे) माँ के चरणों में स्वर्ग निवास करता है।

प्रतापचन्द्र : (क्षण भर चुप रहकर ठाकुर की गम्भीर भावमुद्रा को देखते हुए अपने सर्वपरिचित अन्दाज़ में) यानि कि तुम मुझे-- स्वर्गवासी बना देना चाहते हो ?

(प्रतापचन्द्र हाजरा के इस परिहासपूर्ण विश्लेषण तथा भावाभिव्यक्ति के अन्दाज़ पर इस बार कोई भी मुस्कराए बिना नही रह सका।)

मगर मैं तुम्हारी यह चाल---- कभी सफल नहीं होने दूँगा----

(घबराए भाव से उठ खड़ा होता है।)

मुझे नही करनी अपनी 'आस्था' पुष्ट। (रुककर) जो 'है ही नहीं'---- उसमें 'है' की कल्पना कर लेना---- मैं तो बुद्धिमानी नही मानता----

ठाकुर : जब तुमने कभी प्रयास ही नही किया---- तो कैसे जान पाओगे कि---- वो 'है'---- और सर्वत्र है ?

प्रतापचन्द्र : यदि वह सर्वत्र है---- तो फिर दीखना क्यों नही ?

ठाकुर : वो तो दीखने को तैयार बैठा है हर समय---- हर स्थान पर---- किन्तु

उसके लिए 'दृष्टि' भी तो वैसी ही होनी चाहिए। (रुककर) और फिर 'होने' के लिए क्या 'दीखना' आवश्यक है ?

प्रतापचन्द्र : यदि 'है'---- तो 'दीखेगा' ही----

ठाकुर : जो आँखों-देखा सब 'सत्य' ही होता---- तो बेचारे मृग को---- मरुस्थल की 'मरीचिकाओं' के बीच---- यूँ क्यों भटकना पड़ता ?

(प्रतापचन्द्र हाजरा सहसा हतप्रभ हो निरुत्तर भाव से इधर-उधर देखने लगता है।

चर्चा में खोये ठाकुर सहित उनके शिष्यों में से किसी को भी इस बात का आभास नहीं हो पाता कि इस बीच थका-हारा बेहाल नरेन्द्र कब वहाँ आ पहुँचता है और चुपचाप कबसे उनकी बातों को सुन रहा है।

अपने भीतर घुमड़ रही आवेश भरी व्यथा को अब और रोक पाना नरेन्द्र के लिए सम्भव नहीं रह गया-)

नरेन्द्र : (सावेश) यह तो मृग की नियति ही है, ठाकुर ! अन्यथा----

ठाकुर : (चौंककर) नरेन्द्र ?

(विस्फारित दृष्टि से उसे देखने लगते हैं।

चौंक पड़ने से बातचीत का क्रम एक ही झटके में टूटकर बिखर जाता है।

सहसा चौंककर उठी सभी की दृष्टियाँ नरेन्द्र की बेहाल अवस्था को देख और भी हड़बड़ा जाती है।)

(साश्चर्य) इतने दिन कहाँ रहा रे तू ? (ध्यान से देखकर) और ये---- क्या हाल बना लिया है तू ने अपना ?

प्रतापचन्द्र : (तिरछी दृष्टि नरेन्द्र पर डालकर) लगता है---- लड़कर आया है किसी से----

नरेन्द्र : (सावेश) किसी से क्या---- स्वयं अपने आप से ही लड़कर आया हूँ---- और लड़ता रहूँगा---- तब तक---- जब तक मुझे मेरा मार्ग नहीं मिल जाता। (आक्रामक मुद्रा में) तुम्हें लड़ना हो तो बोलो----

(नरेन्द्र के ऐसे अप्रत्याशित भावावेश पर प्रतापचन्द्र हाजरा सहानुभूति व्यक्त करने के स्थान पर मुँह बना देता है।)

प्रतापचन्द्र : (मुँह बनाकर) बाबा रे !

ठाकुर : (ताड़ना के स्वर में) प्रताप ! हर समय---- हर बात पर परिहास---- ठीक नहीं----

(इस बार प्रतापचन्द्र हाजरा न तो कुछ बोलता है और न मुँह बनाकर कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त करता है, प्रत्युत् गर्दन झुकाए सुनता रहता है।)

जीवन को---- यदा कदा ही सही---- गम्भीरता से लेना चाहिए---- (रुककर) किन्तु तुम्हें तो अपने अतिरिक्त किसी और से---- कोई मतलब ही नहीं रह गया----

प्रतापचन्द्र : (सहमे स्वर मे) ठाकुर !

ठाकुर : (तीखी दृष्टि प्रतापचन्द्र हाजरा के मुख पर गड़ाकर) कभी सोचा है---- गाँव में आस लगाए---- प्रतीक्षा के एक-एक पल को---- अपनी धुंधलाई-पथराई दृष्टि में पिरोती---- बूढी असहाय विधवा माँ के विषय में ?

प्रतापचन्द्र : ऐसी बात नहीं है, गदाधर ! मैं जल्दी ही गाँव जाऊँगा---- पूरे पाँच दिन रहूँगा वहाँ और----

ठाकुर : (बात काटते हुए) यह बात---- पहले भी अनेक बार कह चुके हो तुम---- और सम्भवतः आगे भी कहोगे----। (भावुक स्वर में) जन्मदात्री ही जब---- बोझ बन जाए किसी के लिए तो----

(भावातिरेक के कारण ठाकुर अपना कथन पूरा नही कर पाते।)

(नरेन्द्र की ओर देखकर) तुम्हीं कहो इसे– मित्र है न तुम्हारा ?

(नरेन्द्र के अन्तर्मन के सारे तार जैसे एक साथ झन्ना उठते हैं। चेतना एक तीव्र कचोट से कसमसाने लगती है–)

नरेन्द्र : (मन ही मन) क्या कहूँ मैं, इसे ? कैसे कहूँ ?? (सोचते हुए) मैं स्वयं भी---- क्या इसके जैसा ही नही हूँ ? मैं भी क्या इसी की तरह आत्मकेन्द्रित नही होता जा रहा हूँ ? क्या मैं सही ढंग से अपनी असहाय विधवा माँ और दोनों छोटे भाइयों के प्रति अपना धर्म निभा रहा हूँ ? नही---- (लम्बी साँस लेते हुए) इसीलिए तो उन सबकी चिन्ता छोड---- मैं भी यहाँ आ बैठता हूँ---- दक्षिणेश्वर में---- और ठाकुर के साथ अध्यात्मचर्चा में डूब जाता हूँ। (रुककर) मुझे भी अपना---- केवल अपना ही सुख---- अपनी ही आत्मतुष्टि अभीष्ट रह गई है। (अपने को धिक्कारते हुए) क्या फर्क है मुझमें---- और प्रतापचन्द्र हाजरा में ? क्या मैं भी उस जैसा स्वार्थी नहीं हो गया हूँ ?

(मनोद्वन्द्व के बीच ही विचारों की दूसरी लहर आती है।)

(सोचते हुए) समझ मे नहीं आता---- ठाकुर ये सब बातें मेरे सामने ही क्यों कर रहे हैं ? (अपराध-बोध के साथ) वे क्या प्रकारान्तर से मुझे समझाना चाह रहे हैं---- या उपालम्भ दे रहे हैं ?

(विचारो की ऊहापोह और भी तीव्र हो जाती है।)

(दुविधा भाव से घिरे हुए) उफ् ! क्या करुँ - क्या न करूँ ? कुछ समझ नही पड़ता---- किसे छोड़ूँ---- माँ को---- या ईश्वर को ?

(विचारमग्नता के बीच नरेन्द्र को क्षणभर के लिए ऐसा लगा जैसे उसके आसपास का सम्पूर्ण प्राकृतिक परिदृश्य गोलाकार रूप में घूमने लगा है। दोनो हाथों से कनपटियों सहित माथा थाम नरेन्द्र चक्कर

खाता हुआ-सा गिरने-गिरने को हुआ, किन्तु अत्यधिक सतर्कभाव के साथ शिवानन्द और दाशरथि सान्याल ने उसे बीच ही में सम्हाल लिया।)

दाशरथि : अरे ! क्या हुआ तुझे, नरेन्द्र ?

शिवानन्द : (झकझोरते हुए) नरेन्द्र----

(इस बीच ठाकुर उठकर पास आ जाते हैं।)

आँखें खोल, नरेन्द्र !

(नरेन्द्र आँखें खोलने व सम्हलने का सफल-विफल प्रयास करता है।)

ठाकुर : (ध्यान से नरेन्द्र का चेहरा पढ़ते हुए) घबराओ नही तुम लोग---- कुछ नहीं हुआ इसे---- (नरेन्द्र का हाथ पकड़कर) तू आ मेरे साथ, नरेन्द्र !

(ठाकुर हाथ पकड़े-पकड़े खींच ले जाते है नरेन्द्र को गगातट की ओर।

नरेन्द्र भी सम्मोहित-सा विवश भाव से साथ-साथ खिंचा चला जाता है।

दाशरथि सान्याल, शिवानन्द और प्रतापचन्द्र हाजरा गुमसुम बने देखते रहते है।)

(चलते-चलते) इस---- 'अस्ति' 'नास्ति' की दुविधा से बाहर निकल, नरेन्द्र ! अन्यथा कुछ नही कर पाएगा तू !

नरेन्द्र : (निढाल स्वर मे) सो मैं---- निकल चुका हूँ, ठाकुर ! (निश्वास के साथ) 'अस्ति' की 'मरीचिका' का 'सत्य' मैंने जान लिया है। मोह भंग हो चुका है उससे मेरा।

ठाकुर : भ्रम है तेरा ---- (रुककर) न 'अस्ति' 'मरीचिका' है---- और न 'मरीचिका' सत्य।

(इस बीच दोनों गगाघाट के पास स्थित मन्दिर के निकट आकर ठहर जाते है।)

नरेन्द्र : तो फिर 'सत्य' क्या है 'अस्ति' का ? (रुककर मन्दिर की ओर सकेत करते हुए) क्या---- प्रतिमा ?

ठाकुर : नहीं। (शान्तभाव से) प्रतिमा में 'उसके' 'होने' का विश्वास---- जो 'अदृश्य' होकर भी सर्वत्र 'दृश्य' है।

नरेन्द्र : 'अदृश्य'---- 'दृश्य' कैसे हो सकता है भला ? (रुककर) जो है ही नही---- उसका 'होना' कैसे माना जाए ?

ठाकुर : जैसे मिट्टी में 'कुम्भ', जल में 'लहर' तथा स्वर्ण में 'आभूषण'। (रुककर) तनिक कहो तो---- 'मिट्टी' में मिट्टी से भिन्न वह कौन-सा तत्त्व है, जिसे 'कुम्भ' कहते हैं अथवा 'जल' में 'लहर'---- या 'स्वर्ण' में 'आभूषण'।

(नरेन्द्र किसी गहरे सोच मे डूब जाता है।)

क्या इन्हें परस्पर अलग कर सकता है कोई ? यदि 'मिट्टी' से 'कुम्भ' को, 'जल' से 'लहर' को---- अथवा 'स्वर्ण' से 'आभूषण' को अलग कर कोई दिखलादे---- तो मैं मान लूँगा उसे अपना गुरु---- और तुम्हारी ही तरह 'अस्ति' को अस्वीकार कर दूँगा।

(क्षणभर की चुप्पी के बीच सहसा किसी पक्षी का मधुर स्वर तथा किसी जलपाँखी के पंख फड़फड़ाकर उड़ने की ध्वनि सुन पड़ती है।

पलभर के लिए दोनों का ध्यान उस ओर बँटता है, पर वे तत्क्षण ही पुन: अपने विचार-प्रवाह में खो जाते है-)

जैसे 'वस्तु-सत्ता' और 'भाव' एक-दूसरे में अभिन्न हो समाए रहते हैं, वैसे ही 'ईश्वर' भी 'भाव' रूप में यहाँ, वहाँ, जड़ में, चेतन में सर्वत्र विद्यमान हैं।

(सहसा नरेन्द्र के मुख पर हल्के आक्रोश के भाव उभरते है।)

नरेन्द्र : (सावेश) यदि ऐसा है---- तो वह क्यों नही देखता मेरी ओर ? क्यों ध्यान नही दे रहा मेरे कष्टों पर ? (रुककर) क्यों हमें अपने ही घर से बेदखल होकर आज किराए के मकान में रहना पड़ा ? क्यों असमय ही बाबा का साया हमारे माथे पर से हट गया---- और क्यों आज कलकत्ता के नामी बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त के सम्पन्न-सुखी परिवार की ऐसी दशा हो रही है---- कि भरण-पोषण के लिए दर-दर भटकने के बावजूद भी काम नहीं मिल रहा---- ? (सव्यथा) ऐसे में उसकी 'सर्वत्र विद्यमानता' की बात तो दूर---- केवल 'विद्यमानता' पर भी किसे विश्वास हो पाएगा, ठाकुर ?

ठाकुर : ऐसी दुविधा तब आती है, नरेन्द्र ! जब हमारी चेतना 'वस्तु-सत्ता' की सीमाओं में अटककर रह जाती है---- और उसमें निहित 'भाव' तत्त्व की अनुभूति नही कर पाती। सम्भवत: इसीलिए तुम उस तक पहुँच नहीं पा रहे हो----

नरेन्द्र : (सव्यथा) तो क्या करूँ मैं ? आप ही कहिए, ठाकुर ! कैसे बचाऊँ अपनी इस---- बिखरती आस्था को ?

ठाकुर : मेरा कहा मान---- (रुककर) सारी दुविधा छोड़कर---- चला जा जगन्माता के चरणों में। (भावुक स्वर में) वहाँ से कभी कोई खाली हाथ नहीं लौटता----

नरेन्द्र : जब आपको अपनी जगन्माता पर इतना भरोसा है---- तो फिर आप ही क्यों नही मेरे लिए जगन्माता से निवेदन करते हैं कि वह मेरे परिवार के भरणपोषण की समुचित व्यवस्था कर दे ?

ठाकुर : नहीं---- इसके लिए तो तुझे स्वयं ही जाना होगा---- जगन्माता के पास---- (रुककर) मनुष्य को अपना मार्ग स्वयं ही चलकर पार करना होता है----

(नरेन्द्र कुछ सोचते लगता है।)

किस सोच मे पड गया तू ?

नरेन्द्र : (समकोच) जगन्माता क्या मेरी बात सुनेंगी ?

(सुनकर ठाकुर हँस पड़ते है।)

ठाकुर : (सहास्य) मूर्ख है तू ! इतना भी नहीं जानता---- कि वे जगन्माता हैं--- सबकी माँ। (रुककर) अपने पुत्र के निवेदन पर भी ध्यान नहीं देंगी--- यह कैसे सोच लिया तू ने ?

(भावनाओं में डूबता-उतरता नरेन्द्र न जाने क्या सोचकर ठाकुर के चरण स्पर्श कर लेता है।)

नरेन्द्र : (सविनय) आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ, ठाकुर !

ठाकुर : (परिहास भाव से) माँ से पहले आशीर्वाद देने वाला--- मैं कौन हुआ, रे ?

(क्षण भर की चुप्पी मे गंगा की धारा मे क्रीड़ारत लहरियों के बीच किसी नौका में बैठे मल्लाह की अचानक बज उठी बाँसुरी की मीठी गूंज वातावरण में एक विचित्र-सा दिव्य सम्मोहन घोल देती है।)

(कोमल भाव से नरेन्द्र की ओर निहारते हुए) जा---- मन की उद्विग्नता शान्त कर, सारी चिन्ता, असमजस, आशंका, आक्रोश, असन्तोष और अहंकार को गंगा की धारा में प्रवाहित कर दे---- और फिर निवेदन कर माँ से----

नरेन्द्र : (दोनो हाथ जोड़कर) जी, ठाकुर !

(भावमग्न नरेन्द्र विचारो की उथल-पुथल को जैसे-तैसे अपने भीतर समेटे सम्मोहित कदमों से धीरे-धीरे चल देता है मन्दिर की ओर।)

(मन ही मन) मात्र 'प्रतिमा' मानकर जिसकी अब तक उपेक्षा करता रहा-- जिससे दूर भागता रहा---- उसे ही अब कैसे और किस मुँह से कह सकूँगा अपनी अन्तर्व्यथा ? क्यों सुनेगी वह मेरी बात ? क्यों करेगी वह मेरी सहायता ? (रुककर) और यों भी---- मुझे क्या अधिकार है---- उससे कुछ माँगने का ?

(यह विचार मन में आते ही मन्दिर की ओर बढ़ रहे नरेन्द्र के कदम बरबस सहम् उठते है।

इसी क्षण विचारों की दूसरी हिलोर उठती है-)

(सोचते हुए) क्यों ? क्यों नही है अधिकार---- सन्तान को माँ से कुछ भी माँगने का ? माँ तो उदार हृदया, करुणामयी, त्यागी और क्षमाशील होती है। *वह कभी भी सन्तान से रुष्ट नही हो सकती। (रुककर)* मेरे भीतर की व्यथा को अन्तर्यामिनी माँ बिना कहे ही सब कुछ जान जाएगी---- समझ जाएगी।

(गहन विचारोद्वेलन के बीच खोया नरेन्द्र, यह जान ही नही पाया कि कब वह मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ अन्तरंग परिसर मे प्रविष्ट हो गया। उसे लगा---जैसे वह किसी अनन्त दिव्य ऐश्वर्य के लोक मे आ गया हो। संगमरमर के दमकते फर्श पर बने एक ऊँचे स्थान पर स्थापित जगन्माता जगत्तारिणी की भव्य प्रतिमा। शत्रुसंहारी 'स्वरूप के बीच 'अभय' की मुद्रा में उठा दक्षिण हस्त, जैसे कोमल-मधुर भाव लिए

आशीर्वादों की धारासार वर्षा कर रहा था।
भीतर तक भीग उठा वह उस वर्षा-जल से।

देखते-देखते एक भावपूर्ण कोमल सम्मोहन से घिरने लगा नरेन्द्र, मानो आतुर ममता ने बाहें फैलाकर उसे समेट लिया हो अपने आँचल की छाया में।

मंत्रबिद्ध-सा नरेन्द्र सहसा भूमिष्ठ हो जगन्माता के चरणों में लोट गया। उस क्षण न उसके मन में कुछ कहने को रह गया– न वाणी मे। क्षणभर के लिए जैसे उसके भीतर यसा 'संसार' शून्य हो गया पूर्णतः। बहुत टटोला उसने अपने को, पर माँ से माँगने को कुछ भी न मिला उसे।

अचानक भीतर एक तरग-सी उठी। मन में आया– 'माँ के चरणों से लिपट जी भरकर रो ले।' पर उस क्षण रोया भी तो नही गया उससे।

अगले ही क्षण नेत्रो में भावाश्रुओं का उफान लिए आगे बढ़ गर्भगृह की चौखट पर माथा टिका दिया उसने।

वह केवल इतना ही बोल पाया-)

(करबद्ध मुद्रा मे मस्तक उठाते हुए) माँ !

(जगन्माता की छवि को अपने साश्रु नयनों से भीतर समेटते हुए नरेन्द्र अत्यधिक भावविह्वल हो उठने के कारण आगे कुछ भी नही बोल पाया। कण्ठ रुंध गया उसका।

जगन्माता की छवि को एकटक भाव से निहारती उसकी दृष्टि को उस क्षण ऐसा लगा, मानो प्रतिमा अपने होंठ हिलाती हुई उससे कह रही थी–)

जगन्माता : (कोमल स्वर में) तू चुप क्यों है, पुत्र ! माँग---- क्या माँगता है ?

(नरेन्द्र का अंग-अंग रोमाच से सिहर उठा।

शिराओं और धमनियों में दौड़ रही रक्त बूंदें जैसे पलभर के लिए ठहरकर एक स्वर में पुकार उठी– 'माँ ! माँ !! माँ !!!' नरेन्द्र को उस गूंज-अनुगूज में अपना अस्तित्व लय होता हुआ-सा लगा।

यंत्रचालित-सा स्वर उसके मुँह से फूट पड़ा–)

नरेन्द्र : (बेसुध भावस्थिति में डूबे हुए) मुझे भक्ति दो, माँ ! विवेक दो ! वैराग्य दो !

(ठीक उसी क्षण ठाकुर गर्भगृह के द्वार पर आ खड़े हुए।)

अपना अबाध साक्षात् दो मुझे।

ठाकुर : (भीतर आते हुए) जगन्माता से यह क्या माँग बैठा रे तू, नरेन्द्र ?

(एक ही झटके से नरेन्द्र की आत्मलीनता टूट गई। वह चौककर उठ खड़ा हुआ।)

नरेन्द्र : (चौंककर पलटते हुए) ठाकुर !

ठाकुर : (पास आकर) माँगने तो---- कुछ और आया था न यहाँ ?

नरेन्द्र : हाँ। (रुककर) पर फिर पाया---- माँ से भला क्या छुपा है ? सब जानती हैं वह---- (अल्हड़भाव से) स्वय करेंगी मेरी चिन्ता---- मुझे क्या ?

(बालसुलभ सरलता से ठाकुर को निहारने लगता है।)

सच, ठाकुर ! उस बहुमूल्य और दुर्लभ संयोग के क्षण में समस्त सांसारिक सुख मुझे अति तुच्छ प्रतीत हो रहे थे। (रुककर) सोचा---- जब माँगना ही है---- तो कुछ दुर्लभ माँगू---- (आश्वस्त भाव से लम्बी साँस लेकर) सो माँग लिया मैंने----

ठाकुर : (परिहास भाव से) 'दुर्लभ' को इतने 'सहज' भाव से मांग लेने वाला---- कौन कम 'दुर्लभ' है रे ?

नरेन्द्र : (चौंककर) मैं कुछ समझा नहीं, ठाकुर !

ठाकुर : (सहास्य) सब कुछ क्या---- एक ही बार में समझ लेना चाहता है तू ? (मुँह बनाकर) बहुत चतु है रे !

(हँसते हुए नरेन्द्र के कंधे पर हाथ रख देते है।

ठाकुर का स्पर्श होते ही जाने कैसी झंकृति से सारा शरीर झनझना उठा नरेन्द्र का।

सम्पूर्ण गर्भगृह तथा बाहरी औसारे के स्तम्भ गोलाकार घूमने लगे, जो देखते-देखते किसी तीव्र प्रकाशपुंज मे एकमेक होते चले गए।

आँखें चौंधिया उठी नरेन्द्र की। असह्य प्रकाश के आगे स्वतः ही पलक मुद गए उसके।

अगले ही क्षण नरेन्द्र को ऐसा लगा, जैसे वह स्वयं भी प्रकाश के उस महासागर में डूबकर गोलाकार घूमने लगा है।

घबरा गया वह बुरी तरह और चिल्ला उठा–)

नरेन्द्र : (घबराकर) ठाकुर ! ठाकुर !!

(शून्य में हाथ फैलाकर नरेन्द्र सहायता के लिए ठाकुर को पकड़ने का विफल प्रयास करता है।)

(भयभीत स्वर में) बचाओ, ठाकुर ! मुझे बचाओ----

ठाकुर : (नरेन्द्र के कंधे पर से हाथ हटाते हुए) बस---- इतने में ही घबरा गया तू ?

(कंधे पर से ठाकुर का हाथ हटते ही सब कुछ सामान्य हो गया।

नरेन्द्र घबराए भाव व विस्फारित नयनों से इधर-उधर देखने लगता है।)

(नरेन्द्र से दृष्टि मिलते ही) चलो---- आज इतना ही पर्याप्त है।

नरेन्द्र : (हाँफते हुए) आपने ऐसा क्या किया, ठाकुर ?

ठाकुर : (सहास्य) 'दुर्लभ' क्या---- यों ही मिल जाता है, रे ?

(पलभर के लिए नरेन्द्र अपनी दिव्य पूर्वानुभूति में खो जाता है।)

नरेन्द्र : (भावुक स्वर मे) उस 'दुर्लभ' को पाने के लिए---- मैं सब कुछ त्याग दूँगा, ठाकुर ! सब कुछ----

ठाकुर : (सहसा गम्भीर होकर) फिर तेरी असहाय विधवा माँ और भाइयों के भरण-पोषण का क्या होगा ? तेरे मकान के मुकदमे का क्या होगा ?

नरेन्द्र : (अविचलित भाव से) जगन्माता के होते भला मुझे क्या चिन्ता ? (विश्वास भरे स्वर मे) वे सब ठीक करेंगी।

ठाकुर : सो मैं जानता हूँ---- (कुछ सोचने की मुद्रा में) और यह भी जानता हूँ---- (रुककर) तू इस संसार के लिए जन्मा ही नहीं है। किन्तु----

(एक लम्बी निःश्वास लेकर चुप हो जाते है। मुख पर व्यथा के भाव चमक उठते है।)

नरेन्द्र : (साश्चर्य) आप---- व्यथित हैं, ठाकुर ?

ठाकुर : (सव्यथा) नरेन्द्र !

(अधीर भाव से नरेन्द्र का हाथ पकड़कर [illegible] लगते है।

इस बार ठाकुर के स्पर्श से नरेन्द्र को कुछ नहीं हुआ।)

तेरे बिना तो मैं अपूर्ण हूँ, रे । तुझे खोकर मैं 'दुर्लभ' [illegible] नहीं चाहता।

(नरेन्द्र के हाथ की अपनी पकड़ को [illegible] करते हुए) तुझे एक वचन देना होगा।

नरेन्द्र : (सविस्मय) वचन ? कैसा वचन, ठाकुर ?

ठाकुर : (भावुक स्वर मे) जब तक मैं हूँ— तब तक [illegible] नहीं लेगा----

(कहते-कहते नरेन्द्र के [illegible] ठाकुर की आँखों से दो अश्रुधारें बह निकलती हैं।)

(साग्रह) बोल---- नहीं लेगा न [illegible] ?

(भावातिरेक मे [illegible]
केवल ठाकुर के [illegible]
मंत्रविद्ध के [illegible]
'चातकीय' [illegible]
अथवा [illegible]
[illegible]
था [illegible])

अंक : तीन

दृश्य : दो

स्थान : नरेन्द्र का कमरा

समय : प्रातःकाल

(खिड़की तथा उसके आसपास जहाँ-तहाँ फुदकता-उड़ता तथा बीच-बीच में अपनी चहक से कमरे की निर्जीवता को झकझोरने के प्रयास में लगा चिड़ियों का एक जोड़ा तथा इस सबसे एकदम बेखबर खिड़की से बाहर के शून्य पर दृष्टि गड़ाए बैठा विचारों की गहनता में तल्लीन नरेन्द्र।)

नरेन्द्र : (मन ही मन) आखिर क्या हो गया था उस क्षण मुझे ? (याद करते हुए) सचमुच 'बुद्धि' और 'तर्क' से परे का अनुभव था वह। सहसा विश्वास नहीं होता---- कि यह सब ठाकुर के स्पर्श का ही चमत्कार था। (रुककर) लगता है----- कोई न कोई दिव्य और चमत्कारिक शक्ति है अवश्य उनके पास। तभी तो उनके हाथ का स्पर्श हटते ही फिर से---- सब कुछ पहले जैसा सामान्य हो गया।

(इसी समय खिड़की की राह हवा का सरसराता हल्का झौंका आया और अपने में ही खोए नरेन्द्र के केशों को हौले-से छूता हुआ चुपचाप निकल गया।)

(सोचते हुए) समझ नही पडता---- दोनों ही स्थितियों में से कौन-सी स्थिति सच थी ? पहले की 'स्वप्नवत् सम्मोहन' वाली या बाद वाली सामान्य ? और फिर ठाकुर ने ऐसा किया क्यों ? (मस्तिष्क पर जोर डालते हुए) शायद 'ईश्वर' सम्बन्धी मेरी दुविधा को मिटाने के लिए---- अथवा 'अष्टावक्र सहिता' के दर्शन को मेरे भीतर प्रत्यक्ष करने के उद्देश्य से ठाकुर को यह सब करना पड़ा। (रुककर) लगता है---- ऋषि-मुनियों ने अथक साधना व तपस्या के उपरान्त जो कुछ पाया---- उसे ठाकुर ने अपने एक ही स्पर्श में मुझे दे दिया।

(विचारों की लहर सहसा दूसरी दिशा की ओर मुड़ती है।)

(अपने आप से ही) विचित्र है ठाकुर का व्यक्तित्व ! कभी बेसुध समाधि, कभी भावमग्न प्रेमावेग, कभी आँसू, तो कभी मीठा-चुटीला और सटीक हास-परिहास ! (रुककर) आखिर इनमें ठाकुर का कौनसा रूप सच है ? (सोचते हुए) सम्भवतः इन सबको मिलाकर ही 'ठाकुर' का व्यक्तित्व सम्पूर्ण बनता है। (लम्बी साँस लेकर) जो भी हो---- बहुत कठिन है---- इस 'अबूझ पुरुष' को बूझना।

(ठीक इसी क्षण हाथ में झाड़ू लिए भुवनेश्वरी का कमरे मे प्रवेश– नियति की क्रूरता और विषम जीवन के गहन अनुभव के बीच भी नारी जन्य गरिमा व शालीनता को धारण किए उदास गम्भीर चेहरा तथा धुँधराई सघन श्यामल केशराशि में से यत्र-तत्र गुपचुप रूप से ताकझाँक कर रहे श्वेत तार।

नरेन्द्र को खिड़की के पास विचारमग्न बैठा देख वह क्षणभर के लिए ठिठक जाती है।

अगले ही क्षण हाथ की झाड़ू को वही एक ओर रख चेहरे पर उत्सुकभाव लिए जैसे ही वह नरेन्द्र की ओर बढ़ती है, सहसा कोने में रखे सितार पर जमी धूल की परत को देख चौक पड़ती है–)

भुवनेश्वरी : (ठिठक कर) तेरे सितार पर इतनी सारी धूल---- पहले तो कभी नही जमती थी रे, नरेन ?

(अपनी साड़ी के पल्लू से सितार को पोंछने लगती है।

अपने कथन पर विचारों में खोए नरेन्द्र की कोई प्रतिक्रिया न पाकर उत्सुक मुद्रा लिए वह उसी ओर देखने लगती है–)

(तीव्र स्वर मे) सुना नहीं, नरेन ?

(नरेन्द्र की विचारमग्नता फिर भी भंग नही होती।)

(पास जा उसका कंधा पकड़कर) नरेन !

(आत्मलीनता टूटते ही नरेन्द्र की चौंककर उठी दृष्टि एकदम पास खड़ी माँ भुवनेश्वरी पर पड़ती है–)

नरेन्द्र : (चौंककर) माँ ! तुम ?

भुवनेश्वरी : (नरेन्द्र के कंधे पर हाथ रखे-रखे ही) ये तुझे इन दिनों क्या होता जा रहा है, रे ?

नरेन्द्र : (अपने अन्तर्भावों को फुर्ती से छुपाते हुए) कहाँ क्या होता जा रहा है, माँ ? कुछ भी तो नहीं----। (नाटकीय अन्दाज़ में स्वयं की ओर इशारा कर) देखो---- मैं तो पहले जैसा ही हूँ----

भुवनेश्वरी : (नरेन्द्र के केशों में ममताभाव से हाथ फिराती हुई) न सितार बजाता है---- न कभी गाता है---- न वो टेढ़ी-बाँकी बातें---- न हास-परिहास---- न वो उछलकूद और शरारत----

नरेन्द्र : (बात काटते हुए) अब तो मैं बड़ा हो गया हूँ, माँ ! देखो न---

(अपनी बलिष्ठ भुजाएँ दिखाते हुए मुस्करा पड़ता है।)

(सस्मित स्वर में) बचपन वाली उछलकूद और शरारतें---- क्या अब भी करता रहूँगा मैं ?

भुवनेश्वरी : (परिहास-मुद्रा में मुँह बनाकर) ओऽऽऽ---- ये तो मैं भूल ही गई थी, रे।---- कि तू अब बड़ा हो गया है।

(पुत्र के मुख को कोमलभाव से निहारती भुवनेश्वरी सहसा उसकी आँखो की गहराई में अन्य दिनों से भिन्न एक विशेष गम्भीरता की झलक पा भीतर ही भीतर काँप उठी।

परिहास भाव न जाने कहाँ लुप्त हो गया।

माँ के इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन को देख नरेन्द्र चौंक पड़ा।)

नरेन्द्र : (सविस्मय) ये अचानक ही तुझे क्या हो गया, माँ ?

(भीतर उठे आकस्मिक भावावेग से घिरी भुवनेश्वरी कुछ न बोल सकी। भीगी दृष्टि से निहारती रही नरेन्द्र का मुख और सहलाती रही उसके केश।)

(माँ का दूसरा हाथ पकड़कर) बोल न, माँ ! क्या बात है ?

भुवनेश्वरी : (भीगी दृष्टि और भावुक स्वर के साथ) तू बड़ा हो गया---- यह तो बहुत अच्छी बात है---- किन्तु----

(कण्ठ फिर रुंध गया भुवनेश्वरी का।)

नरेन्द्र : (सशक भाव से) किन्तु क्या ? बोल----

भुवनेश्वरी : (अपने को संयत करती हुई) किन्तु---- इतना बड़ा मत हो जाना, बेटे ! कि---- तेरे लिए दुलारने को उठे मेरे हाथ---- तुझ तक पहुँच ही न पाएँ----

(नेत्र छलछला आते है भुवनेश्वरी के, जिन्हे वह पल्लू से पोंछने लगती है।)

नरेन्द्र : (चौंकते हुए उठकर) ये क्या कह रही हो, माँ ? क्या-क्या ऊल जलूल सोचने लगी हो तुम आजकल ?

(कधे से पकड़कर माँ को अपने से सटा लेता है।)

(भावुक स्वर मे) अरे ! तेरे दुलार भरे आंचल की छाया तो मेरा जीवन है, माँ ! उससे दूर---- भला मैं कहाँ रह पाऊँगा ?

(नरेन्द्र की इस बात से भुवनेश्वरी की अस्थिरता कुछ कम होती है।)

भुवनेश्वरी : (पल्लू से आँखें पोंछकर मीठी ताड़ना के भाव से नरेन्द्र की ओर निहारती हुई) अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों से किसी को भी बहला देना---- तुझे खूब आता है रे, वाक्पटु !

(माँ भुवनेश्वरी के मुख पर से व्यथा के बादल छँटते देख नरेन्द्र का

आशंकित मन कुछ हल्का होने लगता है।)

नरेन्द्र : (हँसी के स्वर में) क्यों न होऊँगा वाक्पटु ? (मुँह बनाकर) बैरिस्टर का बेटा जो हूँ।

(नाटकीय अन्दाज़ में मुँह बना माँ की ओर देखने लगता है, पर उसके मुख पर फिर भी हँसी न देख नरेन्द्र फिर चकरा उठता है।)

क्या बात है, माँ ? (रुककर) कोई दुविधा है मन में ?

(भुवनेश्वरी सहसा कुछ बोल नहीं पाती।
क्षण भर के लिए दोनों के बीच छा गई अनचाही चुप्पी में चिड़ियाओं की उछलकूद, फुदकन और चहक से सारा कमरा भर उठता है।)

भुवनेश्वरी : (सकुचाए भाव से) कल मैं काकी माँ के पास गई थी----

नरेन्द्र : (चौंककर) काकी माँ के पास ? मगर क्यों ?

भुवनेश्वरी : (सहमे स्वर में) सोचा---- बातचीत से कोई रास्ता निकल आए तो----

नरेन्द्र : (बीच ही में बात काटते हुए) जो वे---- बातचीत के लायक लोग ही होते---- तो मुकदमे की नौबत ही क्यों आती हमारे बीच ? (सावेश) हमारा ही मकान---- और हमें ही उनके आगे गिड़गिड़ाना पड़े---- यह तो कोई बात नहीं हुई, माँ ?

भुवनेश्वरी : मगर काकी माँ तो---- गिड़गिडाने के बाद भी समझौते को तैयार नहीं। उल्टे हमीं पर अपना एहसान थोपने लगी। (रुककर) बोली---- तुम्हारे ससुर संन्यासी बनकर चले गए तो हमीं ने तुम्हारे पति व परिवार को दरदर भटकने से बचाया----

नरेन्द्र : (आहत मन से) यह तुमने अच्छा नहीं किया, माँ ! (रुककर) नीति कहती है---- अन्याय का विरोध करो---- (कठोर स्वर में) हम भी संघर्ष करते हुए अपना न्यायपूर्ण अधिकार लेंगे।

भुवनेश्वरी : किन्तु, बेटे ! किसे पता---- मुकदमा कितना लम्बा चलेगा ? किस-किस वकील की मिन्नत-चरौरी नहीं करनी पड़ेगी हमें ? (लम्बी साँस लेकर) तिस पर---- मुकदमे का खर्च कहाँ से जुटा पाएँगे हम लोग ?

नरेन्द्र : तू फिक्र न कर, माँ । मैं आज ही बैरिस्टर बनर्जी से मिलूँगा। वे इस काम में हमारा पूरा साथ दे रहे हैं।

भुवनेश्वरी : तो जा---- सब काम छोड़कर पहले वकील से मिल----

नरेन्द्र : देख, माँ ! सबसे पहले मुझे सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर जाना है। वहाँ ठाकुर आने वाले हैं। उनके दर्शन के बाद ही अन्यत्र जाऊँगा।

(सुनते ही भुवनेश्वरी के मन में हलचल मच जाती है।)

भुवनेश्वरी : (सावेश) ये दक्षिणेश्वर का साधु---- तुझे कहीं का नहीं छोड़ेगा, नरेद्र । देख लेना----

नरेन्द्र : (शान्त भाव से) ऐसा न कहो, माँ ! वे कोई साधारण संन्यासी नहीं हैं। वे तो परमहंस हैं---- परमहंस---- संसार से सर्वथा परे---- एकदम अनासक्त----

भुवनेश्वरी : (धड़कते मन से) कहीं लुट न जाएँ हम---- तेरे उस परमहंस के हाथों।

नरेन्द्र : (प्रसंग की गम्भीरता को टालते हुए परिहासमुद्रा में) ओ---- माँ ! (दोनों कंधे पकड़कर) तू भी बस---- तू ही है----। (सहास्य) अच्छा---- तो मैं चला----

(मेज पर रखा कागजों का पुलिन्दा उठा प्रस्थानोद्यत होता है।)

भुवनेश्वरी : (सशंक भाव से) कागजों का यह पुलिन्दा कैसा है ?

नरेन्द्र : (हाथ के कागज माँ के आगे फैलाते हुए) 'गीतगोविन्द' का बंगला में अनुवाद किया है, माँ ! किसी के लिए। इसे भी तो समय पर पहुँचाना है प्रकाशक के पास। (रुककर) पसन्द आने पर कुछ रुपया भी मिलेगा---- और आगे दूसरा काम भी----

भुवनेश्वरी : (कोमल-करुणभाव से) किन्तु, ऐसे फुटकर काम से क्या होगा, बेटे ! (रुककर) महेन्द्र व भूपेन्द्र के स्कूल की फीस---- और इस घर का किराया----

नरेन्द्र : (कागज समेटते हुए) जब तक कोई ढंग का काम नहीं मिल जाता---- तब तक ये ही क्या बुरा है, माँ ? (माँ के कंधे पर हाथ रखते हुए) तू फिक्र न कर। मैं पिछले सप्ताह विद्यासागर सर से मिला था। उनके मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट की सुकिया स्ट्रीट वाली शाखा में एक अध्यापक का स्थान रिक्त होने वाला है---- और अगले माह चाँपातला में उन्हीं की एक नई शाखा खुलेगी। सम्भव है---- मुझे वहाँ काम मिल जाएगा।

भुवनेश्वरी : (अधीर स्वर में) सो ठीक है---- मगर यह बात तू दक्षिणेश्वर वाले तो उस साधु से न कहना---- (आशंकित भाव से) कहीं दिमाग न फिरा दे वह तेरा----

(माँ की अधीरता देख नरेन्द्र मुस्करा पड़ता है।
ठीक इसी क्षण निमग्न कमरे में प्रवेश करता है।)

निमग्न : अरे ! तू अभी घर ही बैठा है, नरेन्द्र ?

नरेन्द्र : (न समझने का भाव मुख पर लिए) क्या बात है, निमग्न ?

निमग्न : विद्यासागर सर ने तुझे बुलाया है तुरन्त----

नरेन्द्र : चल---- चलते हैं----

(कागजों का पुलिन्दा सम्हाल तेजी से निमग्न के साथ चल देता है।)

भुवनेश्वरी : (अधीर भाव से) तू ना मत कर देना, नरेन्द्र !

(अल्हड़ भाव से मन में उत्साह लिए नरेन्द्र बिना कोई उत्तर दिए कमरे से बाहर निकल जाता है।
परमात्मभाव से आपूरित भुवनेश्वरी के दोनों हाथ सहज ही श्रद्धा से जुड़ जाते हैं तथा पल भर के लिए पलकें भी स्वतः मुद जाती हैं।)

□

अंक : तीन
दृश्य : तीन

स्थान : ठाकुर का दक्षिणेश्वर स्थित आवासकक्ष

ममय : अपराह्न

(मेघाच्छन्न आकाश की उमड़घुमड़ और शीतल बयार की मद लहरियों के बीच अपने कक्ष में विचारमग्न मुद्रा में पलकें मूंदे लेटे स्वामी रामकृष्ण परमहंस। अस्वस्थता के कारण अस्तव्यस्त स्थिति।
बीच बीच में खाँसी उठकर उन्हें बेहाल कर देती।
पास ही खामोशभाव से बैठे प्रतापचन्द्र हाजरा तथा शिवानन्द। दृष्टियाँ कभी परस्पर मिल जाती तो कभी वातायन से बाहर का दृश्य निहारने लगतीं। इतना ही नही, यदाकदा ठाकुर के मुख का भी जायजा लेने का प्रयास करती।
सहसा पलक उघाड़ ठाकुर इधर-उधर देखने लगते है-)

ठाकुर : (सिर को तकिए से कुछ ऊपर उठाते हुए) शिवा ! तनिक सहारा देकर मुझे पीठ के बल बैठा दे----

शिवानन्द : (हाथ जोड़कर उठते हुए) जी, गुरुदेव !
(सहारा देने के लिए हाथ आगे बढ़ाता है।)

प्रतापचन्द्र : रहने दे, शिवा ! बैठाने से कष्ट और बढ़ जाएगा।
(शिवानन्द ठिठककर अपने हाथ पीछे कर लेता है।)
(हल्के रोष के साथ) ठाकुर तो कुछ समझते नहीं। बस---- जो मन में जँच गई---- उसे पूरा करना है---- चाहे परिणाम कुछ भी क्यों न हो ?
(गले की पीड़ा के बीच भी प्रतापचन्द्र हाजरा की बात और उसके अन्दाज़ पर ठाकुर चुपचाप मुस्कराते रहते हैं।)
(संकेत ठाकुर की ओर तथा दृष्टि शिवानन्द की ओर करते हुए) जरा पूछ तो---- अपने इस परमज्ञानी परमहंस से---- क्या आवश्यकता थी---- कल

पानी हाटी में 'चिउड़ा महोत्सव' में जाने की ? कितना मना किया डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार ने---- हमने----। बोलने–नाचने–गाने की जरूरत नहीं है---- गले की गिल्टी का कष्ट बढ़ जाएगा---- पर नहीं---- (सव्यग्य) राधाकान्त मन्दिर के कीर्तनियों को देख मचल गए महाप्रभु ! फिर क्या---- (बड़बड़ाते स्वर में) कीर्तनमण्डल के झांझ-मंजीरे-ढोल-मृदंग थमें---- तो ये थमें। धारासार वर्षा में भी रुकने का नाम नहीं---- (मुँह बनाकर) सारी सुधबुध भूलकर भीगते रहे---- भीगते रहे---- मानो भक्तिसागर की उफनती लहरों के बीच सात जन्मों का पुण्य एक साथ ही बटोर लेंगे---- भक्त–शिरोमणि !

(प्रतापचन्द्र हाजरा के कुपित होने के इस मीठे-अनोखे अन्दाज़ पर बरबस हँसी फूट ही पड़ी ठाकुर के मुँह से।

हँसी के साथ ही खाँसी का दौर भी उठा। कुछ क्षण की लगातार खाँसी से हाँफ उठे ठाकुर।)

(सावेश) ज़िद ही जिद में इतना कष्ट बढ़ गया---- किन्तु---- जरा भी पश्चाताप इसके मन में तुझे दीख रहा है, शिवा ?

(शिवानन्द खाँसी से बेहाल हो रहे ठाकुर की पीठ सहलाने लगता है। इस बीच तीखी दृष्टि में क्रोध लिए प्रतापचन्द्र हाजरा उन्हें घूरता रहता है।

कुछ क्षणों बाद खाँसी थमती है।)

ठाकुर : (हाँफते हुए परिहास-भाव से) तू---- पिछले जन्म में अवश्य मेरा पिता रहा होगा, प्रताप ! (रुककर) या फिर---- (मीठे व्यंग्य से) गुरु----

प्रतापचन्द्र : (उसी अन्दाज़ में) तुम क्या---- थोड़ी देर भी चुपचाप सोये नहीं रह सकते, गदाधर ?

ठाकुर : (शून्य निहारते हुए) अब---- सोना ही तो है रे---- (भावुक स्वर में) जगन्माता के चरणों में !

प्रतापचन्द्र : (तीखे स्वर में) व्यर्थ की बकवास मत कर, गदाधर !

(इसी क्षण थके-बेहाल नरेन्द्र का अधीरभाव से ठाकुर के कक्ष में प्रवेश।

प्रतापचन्द्र हाजरा को वहाँ देख तथा उसके रोषभरे स्वर को सुनकर नरेन्द्र के तेवर खिंच जाते हैं।)

नरेन्द्र : (सरोष) तुम---- फिर यहाँ आ गए, प्रताप ? (तीखी दृष्टि से घूरते हुए) कितनी बार समझाया तुम्हें---- कि तुम्हारी इस तरह की चुभने वाली बातों से ठाकुर की पीडा और बढ जाती है---- मगर तुम हो कि---- उन्हें जली–कटी सुनाने से बाज नहीं आते----

: (आवेश में अपने दोनों हाथ नचाते हुए) पीडा बढ़ जाती है----? (सक्रोध) अरे, ये पीडा तो खुद तेरे ठाकुर की ही मोल ली हुई है।

(रुककर) इतना ही लगाव था---- तो रोका क्यों नहीं पानी हाटी में उसे ?

(नरेन्द्र हक्का बक्का-सा मुँह बाए देखता-सुनता रह जाता है प्रतापचन्द्र हाजरा के इस रूप को और उसके मुँह से फूट रहे उस कड़वे सच को।)

(तीखे स्वर में) बड़ा आया ठाकुर का चहेता---- (मुँह बिगाड़कर) हुंअ्---

(एक दृष्टि अपनी ओर सस्मित मुद्रा में निहारते ठाकुर पर डाल तीखी निगाहो से नरेन्द्र को घूरता हुआ मुँह बिगाड़े प्रतापचन्द्र हाजरा तत्क्षण वहाँ से सटक जाता है।)

ठाकुर : (खरखराते स्वर में) तुम लोग---- व्यर्थ ही उस बेचारे को कोसते रहते हो---- (कोमलभाव से) वह तो अत्यधिक स्नेहवश हम पर अपना अधिकार समझता है---- तभी ऐसा कह देता है----

नरेन्द्र : आपकी इस सरलता से ही तो---- उसका हौंसला दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है, ठाकुर !

(ठाकुर की शैया के पास ही भूमि पर बैठ जाता है।)

जब---- जो जी में आता है---- बक देता है। (रुककर) आपके मान–अपमान की भी परवाह नहीं, उसे----

ठाकुर : अपनों से---- कैसा मानापमान रे ?

नरेन्द्र : (साग्रह) ठाकुर ! अधिक बोलने के लिए डॉक्टर ने आपको निषेध किया है। (शिवानन्द की ओर देखकर) शिवा ! दाशरथि अभी नहीं आया डॉक्टर सरकार को लेकर ?

शिवानन्द : बस---- आता ही होगा----

ठाकुर : (प्रसंग बदलने के उद्देश्य से) अब छोड़ ये सारी बातें, नरेन्द्र ! (रुककर) पहले अपनी कह---- क्या हुआ तेरे काम का ?

नरेन्द्र : काम तो मिल गया, ठाकुर ! विद्यासागर सर के स्कूल में----

ठाकुर : (प्रसन्नता से भरकर) अरे वाह ! (रुककर) देख---- मैंने कहा नहीं था तुझे---- जगन्माता बहुत कृपालु हैं। तू ने उस दिन माँ से अपने भौतिक सुख के लिए कुछ भी न मांगकर---- उनका मन ही जीत लिया, रे ! (भावुक स्वर मे) करुणामयी जगन्माता---- अपनी सन्तानों का पूरा ध्यान रखती है।

(नरेन्द्र के चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया न पाकर ठाकुर को विस्मय होता है।)

(गूढ़ अन्दाज़ में नरेन्द्र को घूरते हुए) मगर---- काम मिल जाने के बाद भी तू---- खुश नजर नहीं आ रहा ? क्या बात है ? (रुककर) घर में सबकुछ ठीक तो है न ?

(ठाकुर के आत्मीय प्रश्नों से नरेन्द्र का मन सहसा भावुक हो उठता है।

वह कुछ क्षण बोल ही नही पाता।)

बोल न !

नरेन्द्र : न घर में ठीक है, ठाकुर ! और न यहाँ।

ठाकुर : (चिन्तित स्वर मे) क्या ठीक नही है ? (सस्नेह) मुझे कह सारी बात---

(भावावेश में नरेन्द्र का हाथ पकड़ लेते हैं।

ठाकुर के हाथ का स्पर्श होते ही नरेन्द्र बुरी तरह से चौंक पड़ता है।)

नरेन्द्र : (चौककर) ये क्या ? आपका शरीर तो---- ज्वर से तप रहा है, ठाकुर ! (चिन्तित स्वर मे) शिवा ! तू जा जल्दी---- और देख---- दाशरथि क्यों नही लौटा अब तक ?

(घबराया शिवानन्द तेजी से बाहर की ओर लपकता है। ठाकुर के कण्ठ मे फिर खरखराहट व पीड़ा उठती है। भरपूर प्रयास के बावजूद भी वे बैचेनी के चिह्नो को अपने मुख पर प्रकट होने से रोक नही पाते।)

(ठाकुर के कण्ठ पर दृष्टि गड़ाते हुए) आज आपके कण्ठ पर सूजन भी आ गई, ठाकुर ! हाजरा का क्रोध सर्वथा उचित ही था। (रुककर) अत्यधिक श्रम, थकान और लगातार वर्षा में भीगते रहने के कारण ही यह सब हुआ है। (पछतावे के स्वर मे) हमें आपको पानी हाटी जाने ही नही देना चाहिए था----

(कष्ट कुछ कम होने के साथ ही ठाकुर सहज होने का प्रयास करते है।)

ठाकुर : (खरखराते कण्ठ से सम्हल-सम्हल कर) यह सब तो नियति की लीला---- और देह का धर्म है, रे ! (रुककर) इसके लिए व्यर्थ ही क्यों अपने को कोसता है ?

(अचानक मेघ जोर से गर्जना कर उठते है तथा बिजली की कड़क-चमक के साथ वातायन से ठण्डी हवा का एक तीव्र वेग भीतर आ सिहरा देता है।

नरेन्द्र फुर्ती से उठकर वातायन के कपाट बंद कर देता है।)

नरेन्द्र : (व्याकुल दृष्टि से बाहर द्वार की ओर देखकर) न जाने कहाँ अटक गया---- शिवा भी ?

(ठीक इसी क्षण शिवानन्द का प्रवेश।)

शिवानन्द : डॉक्टर बाबू आ गए, नरेन !

(आगे-आगे डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार तथा पीछे-पीछे उनकी पेटी उठाए दाशरथि सान्याल के प्रवेश के साथ ही नरेन्द्र ठाकुर के पास से उठकर एक ओर हट जाता है।

(डॉक्टर से दृष्टि मिलते ही बेचैनी के बीच भी एक मीठी मुस्कान के साथ ठाकुर उन्हें कुछ कहना चाहते है, पर महेन्द्रनाथ निषेधमुद्रा में हाथ उठा उन्हें बोलने से रोक देते है–)

महेन्द्रनाथ : (पास बैठते हुए) मुझे दाशरथि ने पूरी बात बतला दी है। (उपालम्भ भरे स्वर में) आपको ऐसी अवस्था में पानी हाटी की यात्रा नही करनी चाहिए थी।

(ठाकुर के शरीर का परीक्षण करने हेतु डॉक्टर सरकार पेटी से उपकरण निकालते है।)

(एक हाथ से ठाकुर की छाती पर उपकरण रखते हुए तथा दूसरे हाथ से नब्ज थामते हुए) थोड़ा मुँह खोलिए ठाकुर !

(ठाकुर खरखराते कण्ठ के साथ मुँह खोलते है।
डॉक्टर सरकार नब्ज़ पर से हाथ हटाकर ठाकुर के खुले मुँह के भीतर गहरे तक दृष्टि गड़ाते हुए उनके कण्ठ के फूले हुए भागों का टटोलकर कुछ क्षण निरीक्षण करते रहते हैं।)

नरेन्द्र : ठाकुर का कण्ठ देखा नहीं जाता, डॉक्टर बाबू !

(गम्भीर मुखमुद्रा बनाए हाथ के उपकरण को एक ओर रखते हुए डॉक्टर महेन्द्रनाथ के मुँह से एक लम्बी साँस निकल जाती है।)

महेन्द्रनाथ : (सोचते हुए) हूँ---- (ठाकुर पर दृष्टि डालकर) नियमित औषधि-सेवन और लेप के साथ ही---- कण्ठ के विश्राम हेतु अब आपका अधिक से अधिक मौन रहना भी अनिवार्य है, ठाकुर ! (उपस्थित शिष्यों पर दृष्टि डालते हुए) यह दायित्व आप लोगों का है।

ठाकुर : किन्तु, डॉक्टर (रुककर) दूर-दूर से आनेवाले श्रद्धालुओं से मिलने-बोलने पर रोक लगाना---- क्या उनकी भावनाओं के प्रति अन्याय नही होगा ? (भावुक होते हुए) नहीं---- नही---- मैं ऐसा नहीं कर सकता---- कदापि नहीं----

महेन्द्रनाथ : तो फिर अपनी इस मनमानी से आपको---- उन लोगों के साथ अन्याय करना होगा---- जो दिन-रात आपकी सेवा में लगे हैं---- और जो सदैव आपको स्वस्थ देखना चाहते हैं।

(डॉक्टर सरकार की यह बात सुनकर सहज ही ठाकुर की व्यथित दृष्टि नरेन्द्र, दाशरथि, शिवानन्द के झुके उदास चेहरों पर भटकने लगती है।)

क्या आपको श्री माँ का जरा भी ध्यान नही है ? (रुककर) जानते हैं---- कल आपके पानी हाटी से अस्वस्थ होकर लौटने के बाद से अब तक वे न तो सोई हैं---- और न ही उन्होंने अन्न–जल ग्रहण किया है।

ठाकुर : (चौंककर) क्या ?

(अत्यधिक व्यथित हो उठते हैं।)

महेन्द्रनाथ : आपके तो दर्शनमात्र से ही लोग प्रसन्न हो जाते हैं---- और फिर न बोलने वाली बात तो केवल कुछ ही दिनों की है। स्वस्थ होते ही----

ठाकुर : (बात काटकर) मैं---- रथयात्रा से पहले स्वस्थ होना चाहता हूँ, डॉक्टर !
(अचानक ठाकुर को जोरदार खाँसी उठती है तथा हल्की खरखराहट के साथ कण्ठ का कुछ रक्त मुँह से बह निकलता है।
देखकर सभी सन्न रह जाते है।)

नरेन्द्र : (घबराकर) डॉक्टर बाबू !
(डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार के चेहरे पर भी घनी गम्भीरता छा जाती है।
नरेन्द्र कपड़ा लेकर ठाकुर के मुँह एव वस्त्रों पर उछट आए रक्त को पोंछने आगे बढ़ता है, पर डॉक्टर हाथ से उसे रोक देते हैं।)

महेन्द्रनाथ : ठहरो, नरेन्द्र ! पहले इस रक्त का नमूना लेना होगा परीक्षण के लिए----
(अपनी पेटी में से छोटी शीशी निकाल ठाकुर के मुँह से बह आए रक्त का नमूना भरने लगते है।
नमूना ले चुकने के उपरान्त नरेन्द्र अपने हाथ के कपड़े से ठाकुर का मुँह एवं वस्त्रादि पोंछता है।
इस बीच कक्ष के द्वार के पास खड़ा शिवानन्द तेजी से कब श्री माँ को सूचना देने गुपचुप सटक जाता है, इसका किसी को पता नहीं चल पाता।)
(पेटी समेटते हुए) भोजन में इन्हें केवल दूध अथवा एकदम पतला दलिया ही देना होगा तथा लेप वाली पट्टी भी तीन-तीन घण्टे में बदलनी होगी।

दाशरथि : (सव्यथा) ठाकुर स्वस्थ तो हो जाएँगे न, डॉक्टर बाबू ?

महेन्द्रनाथ : रक्त-परीक्षण के उपरान्त ही इस विषय में कुछ कहा जा सकेगा। (रूककर) फिर भी ठाकुर को चिकित्सा के लिए दक्षिणेश्वर से कलकत्ता ले जाना ही होगा। (लम्बी साँस के साथ) सारी बात पूरी सावधानी, समुचित पथ्य-परहेज एवं कण्ठ के अधिकाधिक विश्राम पर निर्भर करती है।
(उठ खड़े होते है।)
(पेटी लेकर) चलता हूँ---- कलकत्ता में मेरे एक डॉक्टर मित्र हैं तुषार मोहन---- मैं उनसे बात करता हूँ। तुम लोग ठाकुर को कलकत्ता पहुँचाने की व्यवस्था करो। (जाते-जाते) जगन्माता---- सब मगल ही करेंगी----
(सहसा ठाकुर की ओर घूमकर) इस सबमें अब आपको---- हम लोगों को अपना पूरा सहयोग देना होगा, ठाकुर ! (रूककर) और छोड़नी होगी मनमानी---- (दोनों हाथ जोड़ते हुए) प्रणाम !
(उत्तर में ठाकुर मुस्करा देते हैं।
डॉक्टर सरकार तेजी से बाहर निकल जाते हैं।

कुछ क्षण कक्ष में एकदम स्तब्ध सन्नाटा छाया रहता है, जिसमें किंकर्त्तव्यविमूढ़ नरेन्द्र और दाशरथि एक-दूसरे की आँखों मे जैसे कुछ खोजने का विफल प्रयास करते है।

अचानक ठाकुर का अल्हड़ स्वर निस्तब्धता को एक ही झटके में बिखेर देता है–)

ठाकुर : ये तुम लोग रोनी-सी सूरत बनाए---- किस सोच में डूब गए, रे ? क्या---- डर गए डॉक्टर की बातों से ? (रुककर) तुम क्या सोचते हो---- डॉक्टर के कहने से--- मैं सबसे मिलना-बोलना छोड़ दूँगा ? (मुँह बनाकर) इस भुलावे में न रहना----

(इसी समय शिवानन्द, हृदय व प्रतापचन्द्र हाजरा के साथ श्री माँ का हाथ में लेप-पात्र लिए प्रवेश--- आपादमस्तक धवल वस्त्रों मे आवृत्त *गौरवर्णी काया, शुभ्र ललाट पर दीप्तिमान मोटी लाल सुहाग-बिन्दिया,* सलज्ज नेत्रों के बोझ से झुका मस्तक, मुख पर विद्यमान शान्ति की मधुरता व शालीनता का गाम्भीर्य, देह की पोर-पोर से छलकता मातृत्व– मानो साक्षात् सरस्वती ही हो।

नरेन्द्र और दाशरथि विनयभाव से एक ओर हटकर श्री माँ के लिए स्थान छोड़ देते हैं।)

नरेन्द्र : (शिकायत के स्वर में) माँ ! ठाकुर को आप ही को समझाना होगा---- कि वे---- डॉक्टर के निर्देशों का यथावत् पालन करें।

श्री माँ : (ठाकुर के सिरहाने के पास बैठती हुई) ठाकुर तो स्वयं---- दुनिया को समझाते हैं। उन्हें इसकी---- आवश्यकता ही कहाँ है ?

(लेप-पात्र भूमि पर रखकर ठाकुर की ओर निहारने लगती है।)

सोये हुए ही को तो जगाया जाता है न नरेन ?

(पात्र उठा ठाकुर के कण्ठ पर लेप करने लगती हैं।

ठाकुर को यदाकदा पीड़ा उठती है, जिसे वे चुपचाप सह लेते है ताकि किसी को पता न चले।)

(लेपन करती हुई) बैठ जाओ तुम लोग----

(सब पास आ ठाकुर व श्री माँ को घेरकर बैठ जाते है।)

नरेन्द्र : माँ ! डॉक्टर बाबू का कहना है---- ठाकुर को कलकत्ता ले जाना होगा----

श्री माँ : (शान्तभाव से) पुत्र ! क्या करना है---- क्या नहीं---- सो सब तुम्हीं लोगों को सोचना है। मैं क्या जानूँ ? (भावुक स्वर मे) मैं तो छाया हूँ ठाकुर की।

(सहसा सुरेन्द्रनाथ मित्र का तेजी से प्रवेश– सारा शरीर वर्षा मे भीगा हुआ।)

सुरेन्द्रनाथ : (अधीर स्वर में) कैसी तबीयत है ठाकुर की ? (श्री माँ

ठिठकते हुए) आऽऽ---- श्री माँ भी यहीं हैं ? (सविनय हाथ जोड़कर) प्रणाम, माँ ! प्रणाम ठाकुर !

(ठाकुर और श्री माँ मीठी मुस्कान के साथ सुरेन्द्रनाथ मित्र के प्रणाम का उत्तर देते हैं।)

(पास बैठते हुए) मैं तो समाचार पाते ही घबरा गया था----

नरेन्द्र : पानी हाटी से लौटते-लौटते ही ठाकुर की कण्ठ पीड़ा सहसा बढ़ गई--- और ज्वर भी हो गया। डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार ने लेप और औषधि-सेवन के लिए कहा है। (रुककर) उनका कहना है---- ठाकुर को कलकत्ता ही पहुँचाना होगा। रक्त-परीक्षण के बाद ही स्थिति स्पष्ट हो सकेगी---

सुरेन्द्रनाथ : तो इसमें कठिनाई क्या है ? इसी समय ले चलते हैं ठाकुर को कलकत्ता ! मेरे यहाँ सारी व्यवस्था हो जाएगी----

नरेन्द्र : ठाकुर को आराम की दृष्टि से श्रद्धालुओं की भीड़ और आवाजाही से दूर रखना होगा, सुरेन्द्र दा !

ठाकुर : (खरखराते कण्ठ से) सुरेन्द्र ! तुम इन सबसे कह दो कि ये---- ख्याली पुलाव न पकाएँ। (लम्बी साँस लेकर) मैं दक्षिणेश्वर छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा---- जगन्माता के चरणों से दूर----

नरेन्द्र : ठाकुर ! डॉक्टर बाबू अभी कह नहीं गए थे---- आपको अब अपनी मनमानी छोड़नी होगी।

प्रतापचन्द्र : अरे ! तुझे अपनी फिक्र न सही---- कम से कम हम लोगों का तो कुछ ख्याल कर, गदाधर !

सुरेन्द्रनाथ : हाँ, ठाकुर ! हम सबका निवेदन आप अस्वीकार नहीं कर सकते----

(ठाकुर की धर्मसंकट में उलझी दृष्टि एक-एक कर सभी पर से होती हुई निढाल भाव से फिर अपने में लौट आती है।

एक लम्बी साँस बरबस उनके मुँह से निकल जाती है।)

ठाकुर : ठीक है---- कर लो तुम लोग भी अपनी जिद पूरी। (भावावेश) पर एक बात भली प्रकार जान लो---- मैं ठीक नहीं हो सकूँगा---- यहाँ से दूर जाकर----

श्री माँ : (कोमल ताड़ना के साथ) शुभ शुभ बोलिए न ?(कुछ क्षण के लिए कक्ष में चुप्पी छा जाती है, पर उद्वेलन सभी के मन में भरा था।)

सुरेन्द्रनाथ : (सोचते हुए) बाग बाजार में दुर्गाचरण मुखर्जी स्ट्रीट में एक छोटा-सा मकान है मेरी नजर में। (रुककर) मगर फिर सोचता हूँ---- दक्षिणेश्वर के प्राकृतिक सौंदर्य के बीच रमने वाले ठाकुर उस तंग मकान में घुट न जाएँ कहीं।

(कुछ क्षण मौन रहकर सम्भावित मकानों की उपयुक्तता पर विचार करने लगते हैं।

सभी की दृष्टियाँ सुरेन्द्रनाथ मित्र पर लग जाती हैं।)
मकान तो बसुतल्ला में भी है, श्यामपुकर स्ट्रीट में भी है---- और काशीपुर के पास बराह नगर बाज़ार से कुछ दूर एक उद्यान भवन भी है। (रुककर) पर तुम लोग मकान की चिन्ता छोड़ो---- यह मैं देख लूँगा। तुम लोग तो बस यह सोचो---- कि ठाकुर के पास देखभाल के लिए अधिक से अधिक कौन रहेगा और यहाँ पीछे दक्षिणेश्वर में पूजा का प्रबंध क्या होगा ?

नरेन्द्र : होना क्या है ? (रुककर) पीछे मन्दिर की व्यवस्था हृदय और रामलाल मिलकर देख लेंगे----

हृदय : नहीं---- नहीं---- मैं ठाकुर से दूर नहीं रह पाऊंगा----

नरेन्द्र : देखो, हृदय ! कलकत्ता जैसे बडे शहर में अधिक लोगों के लिए व्यवस्था भला कैसे सम्भव हो सकती है ? (समझाते हुए) कुछ दिन की ही तो बात है---- और फिर यदि जरूरत हुई---- तो बुला लेंगे तुम्हें।

प्रतापचन्द्र : (आतुर भाव से बैठे-बैठे ही आगे सरककर) और मैं ?

नरेन्द्र : तुम्हें तो गाँव जाना है न---- माँ से मिलने ?

प्रतापचन्द्र : (दृढ़ स्वर मे) नही---- माँ से फिर मिल लूंगा----। मैं ठाकुर को नहीं छोड़ सकता।

शिवानन्द : आज प्रताप को क्या हो गया है, नरेन्द्र ? (रुककर) ये बदला–बदल रूप ?

ठाकुर : (परिहास भाव से) लगता है---- तर्क की सीढ़ियाँ चढ़े बिना ही--- 'आस्था' पुष्ट हो गई इसकी----

(सब एक साथ हँस पड़ते है।
प्रतापचन्द्र हाजरा गम्भीर बना गर्दन झुका लेता है।
ठाकुर की अस्वस्थता से गम्भीर बना वातावरण एक बारगी इस हँसी से हल्का हो जाता है।)

सुरेन्द्रनाथ : (गम्भीर होकर) हाँ---- तो अब कहो---- ठाकुर की देखभाल और सेवा का क्या होगा ? (रुककर) हमें मिलकर यह दायित्व बाँटना होगा---- क्योंकि सभी के अपने-अपने घर-परिवार हैं और पारिवारिक दायित्व भी।

(वातावरण फिर गम्भीर होने लगता है।)

(सभी पर दृष्टि डालते हुए) तुममें से कौन---- अधिकाधिक समय ठाकुर के पास रहेगा ?

नरेन्द्र : मैं रहूँगा, सुरेन्द्र दा ! मै करूँगा ठाकुर की सेवा----

(सुनकर सब चौंक पड़ते है।)

ठाकुर : (चौंककर) तू अकेला क्या-क्या करेगा, रे नरेन्द्र ? (रुककर साँस लेते हुए) नौकरी करेगा---- घर देखेगा---- पढ़ाई करेगा---- घर का मुकदमा लडेगा--- या मेरी सेवा करेगा ?

दाशरथि : अभी कुछ दिन ही तो हुए हैं---- तेरी नौकरी लगे----

नरेन्द्र : (सावेश) तो क्या हुआ ? (रुककर) आवश्यकता होने पर सब छोड़ दूँगा---- पर ठाकुर को नहीं छोड़ूँगा।

(नरेन्द्र की दृढ़ता और निष्ठा से सब क्षणभर के लिए स्तब्ध हो जाते है।)

दाशरथि ! तुझे मेरा अवकाश-प्रार्थनापत्र कल सुबह ही विद्यासागर सर के पास पहुँचाना होगा।

दाशरथि : ठीक है---- पहुँचा दूँगा। (रुककर) मगर--- कितने दिन का अवकाश लेगा तू ?

नरेन्द्र : अनिश्चितकाल का----

दाशरथि : (साश्चर्य) यानि ?

नरेन्द्र : तब तक---- जब तक ठाकुर पूर्णतः स्वस्थ न हो जाएँ। (भावुक स्वर में) किसे पता---- भक्त को भगवान की पूजा में कितना समय लगेगा ?

ठाकुर : (अस्थिर भाव से) नरेन्द्र

(सबकी दृष्टि मे विस्मय भरा था।

श्री माँ के नेत्रो में वात्सल्य तरलायित हो उठता है।

वे भावमुग्ध दृष्टि से आशीषों की वर्षा करती हुई निहारती रहती है कुछ क्षण नरेन्द्र को।

ठीक इसी क्षण रामलाल का प्रवेश होता है-)

रामलाल : (इधर-उधर देखते हुए) प्रतापदादा ! गाँव से कोई आया है बुलाने---- (सहमेभाव से) माँ नही रही तुम्हारी----

प्रतापचन्द्र : (हक्का बक्का होकर) क्या_? हे भगवान ! यह क्या हो गया ?

(फूट पड़ता है।)

ठाकुर : (सव्यथा) अब रोने से क्या होगा, रे ? (सावेश) मातृदोष का भागी है तू !

(आवेश और अस्थिरता की मनःस्थिति के बीच सहसा ठाकुर को जोरदार खाँसी उठती है, साथ ही पहले की तरह फिर रक्तस्राव होने लगता है।)

नरेन्द्र : (घबराकर) ठाकुर !

(नरेन्द्र व सुरेन्द्रनाथ मित्र एक साथ ठाकुर को सम्हालने लपकते हैं।

श्री माँ की आँखें ठाकुर की बेचैनी, खाँसी और रक्तस्राव को देख फटी की फटी रह जाती है।

क्षण भर के लिए सभी कुछ जड़ हो जाता है।)

☐

अंक : तीन
दृश्य : चार

स्थान स्वर्गीय बैरिस्टर दत्त का घर

समय : दोपहर

(घर के ओसारे में झुककर बैठी धान को फटक-बीन रही उदास भुवनेश्वरी।

यंत्रचालित-से हाथों का साथ छोड़ उसकी अस्थिर दृष्टि कभी जब धान भरे छाज से उछटती तो खिड़की के पास टगे छींके पर बिखरे अनाज के दानो को उनके ईर्द गिर्द मीठी चहक के साथ फुदक-फुदक कर चुग रही ममतालु चिड़िया व उसके अल्हड़ बच्चों पर से होती हुई पास ही तख्त पर बैठे स्कूल का होमवर्क करने मे तन्मय भूपेन्द्र पर टिककर एक मौन चीत्कार कर उठती। गुपचुप बीत रहे उन चिन्ता बोझिल क्षणों के बीच अचानक बाहर वाली कुण्डी खड़क उठती है।)

भुवनेश्वरी : (चौंककर) भूपी ! देख तो---- महेन स्कूल से आ गया लगता है।
(भूपेन्द्र अनमने मन से उठकर दरवाजा खोलता है, पर बाहर महेन के स्थान पर नरेन दद्दा को खड़ा देख खुशी के मारे खिल उठता है।)

भूपेन : (सुखद आश्चर्य से) दद्दा--- तुम ? कहाँ थे इतने दिन ?
(नरेन्द्र से लिपट जाता है।
नरेन्द्र भी उसे अपने में समेट लेता है।)

नरेन्द्र : (भूपेन्द्र के केश सहलाते हुए) कैसा है रे तू ?
(नरेन्द्र का स्वर कानों में पड़ते ही मानिनी ममता की त्यौरियाँ खिच जाती हैं।

थमे हाथ फिर से छाज से जूझने लगते है, किन्तु कमबख्त कान बरबस अपने भीतर समाते जा रहे स्वर से उदासीन नही रह पाते। परिणामतः स्वर के निकट आने के साथ ही साथ खिंची त्यौरियों के कड़े पहरे में दंद

दृष्टियाँ जाल में फँसी मछलियो-सी छटपटाने लगती है।

(निकट आता स्वर) पढ़ाई ठीक चल रही है न तेरी? और कह-- माँ कैसी हैं ?

भूपेन्द्र : चलकर खुद ही देख लो न---- वो रही माँ !

(स्वर और पॉव चलकर एकदम सामने आ खड़े हुए तो भी भुवनेश्वरी ने न दृष्टि उठाई और न काम छोड़ा।)

नरेन्द्र : (अधीर स्वर में) माँ ! (रुककर) मुझसे नाराज हो ?

(भुवनेश्वरी अपने काम में लगी रहती है। बोलती नही कुछ। जब आतुर नरेन्द्र से रहा नही गया तो नीचे बैठ माँ का कंधा पकड़ झकझोर देता है–)

माँ !

(सहसा झकझोर दिए जाने पर बरवस दृष्टि को उठना ही पड़ा। सामने नरेन को देख बुरी तरह चौंक पड़ी भुवनेश्वरी–)

भुवनेश्वरी : (चौंककर) तू ?

(पलभर के लिए आँखों को विश्वास ही नही हुआ कि सामने बैठा नरेन्द्र ही है या कोई और– रूखे बिखरे बाल, बुरी तरह सलवट पड़े अस्त-व्यस्त वस्त्र, लाल-लाल सूजी हुई-सी आँखें, न जाने कितनी रातो जगी, शायद रोई हुई भी, पपड़ाए होठ।

विस्फारित दृष्टि से टकटकी बाँधे कुछ क्षण नरेन्द्र को देखती रही भुवनेश्वरी।)

नरेन्द्र : (सविस्मय) ऐसे क्या देख रही है, माँ ? (पास सरककर कंधा पकड़ते हुए) मैं नरेन्द्र हूँ---- तेरा नरेन्द्र।

(बाल सुलभ अन्दाज में माँ के कंधे पर अपनी ठोडी टिका देता है नरेन्द्र, पर भुवनेश्वरी उसे भावावेश में झटक देती है।)

भुवनेश्वरी : (सावेश) कौन नरेन्द्र ? (सुलगती ममता की तपिश को दृष्टि के द्वारा नरेन्द्र की ओर उछालती हुई) मैं किसी नरेन्द्र को नहीं जानती।

(माँ के अकारण कोष का औचित्य समझ रहा नरेन्द्र पलभर के लिए सहम जाता है, पर उसे मनाने के लिए वह तत्काल अपना भाव परिवर्तन करते हुए परिहास-मुद्रा धारण कर लेता है।)

नरेन्द्र : (मुँह बनाकर) बाबा रे ! इतना गुस्सा---- कि पहचानना ही न चाहे ? (सहास्य) ठीक है---- तो ले---- मैं ही दिए देता हूँ तुझे अपना परिचय---- (माँ के कान के पास मुँह लाकर नाटकीय अन्दाज में ऊँचे स्वर से) मैं नरेन्द्र हूँ---- (सहास्य) अरे---- तुम्हारा बेटा----

भुवनेश्वरी : (रुष्ट स्वर मे) मेरा बेटा ? (गर्दन हिलाती हुई) इस नाम का कोई बेटा नही है मेरा। (भावाकुल स्वर मे) हाँ---- एक बेटा था अवश्य---- (शून्य

पर दृष्टि गड़ाए) बिलेह---- वह कहीं खो गया है---- (अपने साश्रु नयन नरेन्द्र के आगे याचना-मुद्रा में पसारती हुई) तू जानता है उसे ?

(माँ की आँखों में छलछला आई असहाय - विवश ममता को देख नरेन्द्र का कलेजा चिर जाता है एकदम भीतर तक, पर तत्काल ही वह अपने को संयत कर लेता है-)

नरेन्द्र : (मुँह बनाकर) ओ---- माँ ! (दोनो कंधे पकड़कर प्यार से) देख---- पूरे छह दिन बाद तेरा बेटा आया है बाहर से---- और तू उससे आते ही लड़ने बैठ गई ?

भुवनेश्वरी : (आहत् दृष्टि से नरेन्द्र को निहारती हुई उपालम्भ भाव से) छह-छह दिन बिना किसी सूचना के---- बिना काम के व्यर्थ ही घर से बाहर रहकर लौटे---- तो तू ही सोच ले---- वो बेटा---- किसी भी दुखिया माँ के लिए सत्कार का पात्र होगा---- या धिक्कार का ?

(नरेन्द्र के पास माँ के इस तर्क का कोई उत्तर न था।)

(सावेश) इतने दिन बाद आज सुध आई है तुझे घर की ?

नरेन्द्र : ठाकुर अचानक गम्भीर रूप से रुग्ण हो गए, माँ ! पानी हाटी के चिड़ा महोत्सव में वर्षा के बीच भी नाचते-गाते रहने से गले की गिल्टियाँ बिगड़ गई। वहाँ दक्षिणेश्वर में डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार की औषधियों का भी कोई लाभ न होने से उन्हें कलकत्ता लाकर काशीपुर में [illegible]। (रुककर) डाक्टरों का कहना है कि ठाकुर को [illegible] होने लगा है अब।

भुवनेश्वरी : (साश्चर्य) तू इतने दिन से कलकत्ता में ही रहा--- [illegible] भी समय नहीं मिला तुझे ?

नरेन्द्र : ठाकुर को ऐसी अवस्था में छोड़कर [illegible], माँ ? (रुककर) सच मान--- पिछले छह दिनों में [illegible] भी हमने ठाकुर को अकेला नहीं छोड़ा--- न [illegible]---

भुवनेश्वरी : (आशंकित स्वर मे) तब तो इतने दिन [illegible] होगा ?

नरेन्द्र : (मस्तक झुकाए सहमे भाव से) हाँ, माँ ! [illegible] माँगा, पर लम्बे समय के लिए [illegible] न मिलने के कारण मैंने---- वह नौकरी छोड़ दी।

(सुनकर धक्क रह गईं [illegible]। [illegible] आकाश की [illegible]।)

भुवनेश्वरी : (चौंककर) क्या ? [illegible] ? (उद्विग्न [illegible]) कठिन भाग दौड़ के [illegible] --- [illegible] ?

नरेन्द्र : तो क्या करता, माँ ? [illegible]

भुवनेश्वरी : (तीखी दृष्टि से [illegible]) [illegible]

और हमारी सेवा का कुछ भी ध्यान नहीं तुझे ? (भर्त्सना के स्वर में) ये भी नहीं सोचा--- घर में असहाय विधवा माँ है;--- छोटे भाई हैं--- नौकरी के बिना उनका पालन-पोषण कैसे होगा ?

नरेन्द्र : मनुष्य की भला क्या सामर्थ्य है, माँ ! कि वह किसी का पालन-पोषण कर सके। (रुककर) वास्तविक पालनकर्त्ता तो ईश्वर है।

भुवनेश्वरी : (सावेश) तो क्या---- हमारे पालन-पोषण के लिए--- तेरा ईश्वर जाएगा नौकरी करने ? (बड़बड़ाती हुई) विचित्र तर्क है तेरा भी--- गुरु की सेवा करेगा तू---- ईश्वर नहीं---- और हमारा पालन-पोषण व सेवा करेगा ईश्वर---- तू नही ?

नरेन्द्र : ईश्वर तो कर्त्ता है, माँ ! और मनुष्य निमित्त। (भावुक स्वर मे) मेरे लिए इस ससार में ठाकुर से अधिक महत्वपूर्ण कोई भी नहीं है---

भुवनेश्वरी : (तमककर) क्या--- जन्मदात्री माँ भी नहीं ?

(उत्तर मे मुस्करा देता है नरेन्द्र।)

नरेन्द्र : (भावुक स्वर में) माँ ! ठाकुर के साथ मेरा सम्बन्ध 'संसारी' नहीं है।

भुवनेश्वरी : मैं नहीं जानती--- ये 'संसारी' 'असंसारी' सम्बन्ध क्या होते हैं ? कैसे होते हैं ?

नरेन्द्र : बस---- यूँ समझ ले---- जैसा 'भक्त' और 'भगवान' का होता है---

भुवनेश्वरी : (आक्रोश भरे स्वर मे) भगवान क्या इतना कठोर होता है कभी ?

नरेन्द्र : नहीं, माँ ! ठाकुर कठोर नहीं हैं। (भावुक स्वर में) एकदम कोमल हैं--- मक्खन से कोमल---- और स्निग्ध----

भुवन : किसी असहाय विधवा माँ से उसका एकमात्र समर्थ बेटा छीन लेने वाले को तू 'कोमल' कहता है ? (सक्रोध) वह तो राक्षस से भी अधिक क्रूर व दुष्ट है। (पूर्व स्मृति को कुरेदती हुई) उस संन्यासी ने ठीक ही कहा था--- बचाले मैया---- अपने इस पुत्र को बचाले---- उस ढोंगी और पागल से---- वरना खो बैठेगी तू इसे। (अपने को कोसती हुई) सारा दोष तो मेरा ही है, रे ! मैं ही अभागिन तुझे बचा नहीं पाई----

(एक लम्बी व्यथा भरी नि:श्वास के साथ भुवनेश्वरी गहरे सोच मे डूब जाती है।)

नरेन्द्र : तेरा इसमें तनिक भी दोष नहीं है, माँ ! (रुककर) सच तो यह है कि--- मैं तुम्हारी इस 'सांसारिकता' के लिए जन्मा ही नही हूँ। सम्भवत: ईश्वर ने मेरे लिए---- कुछ और ही विधान रचा लगता है----

(सुनते ही भुवनेश्वरी का कलेजा दुर्भाग्यपूर्ण भावी आशका से काँप उठता है।)

भुवनेश्वरी : (स्तब्ध भाव से) क्या मतलब है तेरा ?

(किसी चोट खाई सर्पिणी की तरह फुफकारती हुई भुवनेश्वरी एक क्षण के लिए जैसे अपना आपा खो बैठती है।)

(काँपते स्वर में) सन्यास लेगा तू ? (अंगारे बरसाती मुद्रा बनाकर) यही सिखाया है तुझे---- तेरे उस ढोंगी गुरु ने ?

(माँ के ऐसे क्रोधभरे तेवर भूपेन्द्र के लिए सर्वथा अप्रत्याशित ही थे। वह सहमी दृष्टि से माँ को निहारते हुए कुछ दूर हट जाता है।)

नरेन्द्र : नहीं, माँ ! ये तो ठाकुर ने ही मुझे रोक रखा है 'संन्यास' लेने से---- अन्यथा मैं तो बहुत पहले ही यह निर्णय ले चुका था। (रुककर) वे स्वयं तुम लोगों के अनिश्चित भविष्य को लेकर बहुत चिन्तित रहते हैं। उन्होंने मुझसे वचन लिया है---- कि जब तक वो जीवित हैं---- मैं संन्यासी नहीं बनूँगा----

भुवनेश्वरी : (तिलमिलाए भाव से) और उस वचन का क्या होगा, रे ? (रुककर) जो तूने---- पीशी बूआ और मुझे दिया था---- (स्मरण दिलाती हुई) कि तू---- अपने दादा के मार्ग का अनुसरण कभी नहीं करेगा----

नरेन्द्र : उस वचन पर तो मैं अभी भी दृढ़ हूँ, माँ ! (रुककर) विश्वास रखो---- मैं दादा के मार्ग का कभी अनुसरण नहीं करूँगा---- और न ही कभी ऐसा कोई कार्य करूँगा---- कि जिससे तुम्हें लज्जित होना पड़े----

भुवनेश्वरी : (मुख पर 'न समझने' का भाव लिए) तो फिर----

नरेन्द्र : (बीच ही में) संन्यास तो मैं लूंगा, माँ ! (रुककर) मगर दादा की तरह जीवन के संघर्षों और कठिनाइयों से घबराकर नही। (भावमग्न स्वर मे) यही मेरी नियति है---- और मेरी आध्यात्मिक अनिवार्यता भी----

(सहसा कुछ याद कर चौंकते हुए उठ खड़ी होती है भुवनेश्वरी।)

(चौंककर) क्या बात है, माँ ?

भुवनेश्वरी : (भावुक स्वर में) कैसी माँ हूँ मैं भी ? (रुककर) इतनी देर हो गई---- छह दिन बाद लौटे पुत्र से यह भी नहीं पूछा कि तूने---- कुछ खाया-पीया भी है---- या भूखा ही है ?

नरेन्द्र : (माँ का आँचल पकड़कर) मैं तो---- जन्म-जन्म का भूखा हूँ, माँ ! (कोमल एवं भावुक स्वर में) कभी ज्ञान का---- कभी ईश्वर के साक्षात् का---- तो कभी तेरे ममता भरे दुलार का----

(नरेन्द्र की भावनागत मिठास से भुवनेश्वरी का मन भर आता है।)

भुवनेश्वरी : (मीठी ताड़ना के भाव से निहारती हुई) चल हट---- दक्षिणेश्वर के उस ढोंगी साधु के साथ रहकर तू भी छलना सीख गया है---- (नरेन्द्र के हाथ से अपना आँचल छुड़ाकर) देखती हूँ---- रसोईघर में तेरे लिए क्या है ?

(तेजी से रसोईघर की ओर चल देती है।

नरेन्द्र के मुख पर मधुर-कोमल मुस्कान दौड़ जाती है, पर अगले ही क्षण घर की तंग हालत और रसोईघर के खाली डिब्बों का ध्यान आते ही चेहरा स्टक जाता है।

जाने क्यों, माँ को रोकना चाहकर भी नहीं रोक पाता वह।)

□

अंक : तीन
दृश्य : पाँच

स्थान : काशीपुर का उद्यान-भवन

समय : संध्याकाल

(मोतीझील के उत्तर मे वराहनगर बाजार की बड़ी सड़क से कुछ दूर हटकर स्थित रानी कात्यायिनी देवी के दामाद श्रीयुत् गोपालचन्द्र घोष द्वारा निर्मित इस दुमजिले उद्यान-भवन की निचली मंजिल का पश्चिमी छोरवाला शान्त-एकान्त कक्ष।

तख्त पर विश्रामरत ठाकुर के कष्ट-पीड़ा से त्रस्त मुख को तिरछी मुद्रा में पास बैठकर कोमलभाव से दुलारती-सहलाती अस्तासन्न सूर्य की अरुणिम किरणे।

ठाकुर यदाकदा जब गले की पीड़ा से छटपटाते हुए कराह उठते तो उनके पाँव दबा रहे नरेन्द्र के हाथ कुछ क्षण के लिए स्वतः ही रुक जाते तथा उसकी व्यथा भीगी दृष्टि उनके पलक मुंदे मुख पर केन्द्रित होने का विफल प्रयास करती हुई आतुरभाव से द्वार पर जा टगती, किन्तु अगले ही क्षण निराश हो पुन. अपने आप में लौट आती।

गहरी खामोशी के बीच यही क्रम चलता रहा कुछ देर।

अचानक उठी तेज पीर के वेग के साथ ही ठाकुर का हाथ बरबस *अपने गले पर बंधी लेप लगी पट्टी पर जा पहुँचा।*

नरेन्द्र ने झपटकर ठाकुर का हाथ पकड़ लिया-)

नरेन्द्र : नहीं, ठाकुर ! हाथ नहीं----

(इस प्रयास में गले पर हल्का-सा दबाव पड़ने ही दर्द के मारे ठाकुर कराह उठे। मुँह खुला तो कुछ रक्त बाहर निकल आया।)

(कपड़े से रक्त पोंछकर) बहुत कष्ट है, ठाकुर ?

(सुनकर प्रयत्नपूर्वक अपनी बंद पलकों को कुछ खोल हौले-से मुस्करा देते हैं ठाकुर-)

ठाकुर : (सस्मित स्वर में) ये तो मैं---- 'देह धर्म' निभा रहा हूँ, रे !

नरेन्द्र : आप न ठीक से खा पाते हैं---- न पी पाते हैं---- (रुककर) यहाँ तक कि---- बोलने में भी आपको बहुत पीड़ा होती है। (सव्यथा) ये कैसा 'देह धर्म' हुआ, ठाकुर ?

ठाकुर : 'देह' है---- तो 'दैहिक कष्ट' भी होंगे ही। (रुककर साँस लेते हुए) देह धारण करने वाले को---- कर्मानुसार इन्हें भुगतना ही पड़ता है।

(ठाकुर का हाथ यथास्थान रखने के बाद नरेन्द्र फिर उनके पाँव दबाने लगता है।)

(खरखराते कण्ठ से) जरा, व्याधि, जन्म, मृत्यु आदि देह के धर्म हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा तक भी इनसे बच नहीं पाए। (रुककर) अजर-अमर तो केवल आत्मा है।

नरेन्द्र : किन्तु, ठाकुर----

(ठीक उसी क्षण काली प्रसाद और शिवानन्द के आ जाने से बातों का क्रम भंग हो जाता है।)

(व्यग्र स्वर में) आ गए, शिवा---- तुम लोग ? दवा ले आए ?

शिवानन्द : हाँ। इस दर्द निवारक औषधि से ठाकुर की पीड़ा तुरन्त ही कम हो जाएगी।

(हाथ की दवा नरेन्द्र की ओर बढ़ाता है।)

डॉक्टर बाबू ने रात्रि में आने को बोला है।

नरेन्द्र : (दवा लेकर) ठीक है। तू पानी ला---- काली !

(कालीप्रसाद फुर्ती से जलपात्र भर लाता है।
तीनों मिलकर ठाकुर को दवा पिलाने का प्रयास करते हैं।)

मुँह खोलिए, ठाकुर !

(ठाकुर अनिच्छापूर्वक मुँह खोलते हैं।
नरेन्द्र सावधानी से दवा व थोड़ा-सा जल उनके मुँह में डाल देता है।
शेष दवा व जलपात्र को वहीं रखने के उपरान्त नरेन्द्र ठाकुर का मुँह पोंछकर वस्त्रादि ठीक करने लगता है तथा शिवानन्द व कालीप्रसाद पास ही भूमि पर बैठ जाते हैं।)

ठाकुर : इस जर्जर पिंजर में व्यर्थ ही तुम लोग इतनी औषधियाँ उडेलते हो। (रुककर) कुछ नहीं होने का इनसे----

शिवानन्द : यह आप क्या कह रहे हैं, गुरुदेव ? (रुककर) हमारे लिए तो---- ये जर्जर पिंजर ही एकमात्र सर्वस्व है।

नरेन्द्र : (उपालम्भ के स्वर में) लगता है, आप स्वयं ही स्वस्थ नहीं होना चाहते ठाकुर !

ठाकुर : (पलकें पूरी खोलते हुए) तुम लोग क्या सोचते हो---- मैं जानबूझकर इतना कष्ट भोग रहा हूँ ? मैं भी चाहता हूँ---- जल्दी से जल्दी ठीक

जाऊं--- (लम्बी साँस लेकर) पर सब कुछ तो जगन्माता की इच्छा पर निर्भर है।

कालीप्रसाद : तो आप जगन्माता से क्यों नहीं कहते--- कि वे आपको शीघ्र स्वस्थ कर दें।

नरेन्द्र : हाँ, ठाकुर ! आपकी इच्छा को जगन्माता टाल नहीं सकतीं।

(कण्ठ-पीड़ा अचानक फिर उठती है।

ठाकुर दाँत भींचकर बिना कराहे उसे सह लेते हैं।)

ठाकुर : (कण्ठ-पीड़ा से अपने को संयत करते हुए) कैसी बात करते हो तुम लोग ? माँ क्या---- यह सब नहीं जानती ?

(ठाकुर के कथन का मर्म समझ नरेन्द्र की दृष्टि एक क्षण के लिए झुक जाती है।)

पुत्र को क्या---- माँ से यह सब कहना पड़ता है ?

(एक क्षण के लिए ठाकुर कुछ सोचने लग जाते है।

उनकी कल्पना में सहज ही घने काले मेघों में समाई सजल शीतलता की अनुभूति कौंध उठती है।)

(भावुक स्वर में) ग्रीष्म-घाम से तपी-झुलसी धरती को---- क्या कभी अनन्त नीलाकाश से त्रिविध बयार--- और शीतल-तरल-सुखदायिनी फुहारों के लिए अनुनय करते देखा है तुमने ?

नरेन्द्र : (झुकी दृष्टि उठाते हुए) तो फिर----

ठाकुर : (बात काटते हुए निषेध भाव से) ना---- ममता के संसार में किन्तु, परन्तु, लेकिन फिर---- किसी के लिए कोई स्थान नहीं होता, पुत्र !

(पलभर की चुप्पी मे ठाकुर नरेन्द्र के मन मे चल रही छटपटाहट को समझ लेते है।)

(कोमल स्वर में) तू निश्चिन्त रह। माँ वही करेगी---- जो उसे अभीष्ट है----

(ठीक इसी क्षण हाथों में भोजनपात्र लिए द्वार पर आ खड़ी हुई श्री माँ एक मीठी मुस्कान के साथ सहसा परिहास कर उठती है-)

श्री माँ : (मीठी मुस्कान के साथ) सो मैं पूरा कर लाई हूँ।

नरेन्द्र : (चौंककर उसी ओर देखते हुए) माँ---- आप ?

(नरेन्द्र व ठाकुर की एक साथ चौंकी दृष्टियो का केन्द्र बनी श्री माँ साक्षात् अन्नपूर्णा-सी भोजनपात्र लिए धीरे-धीरे उसी ओर बढ़ती है।)

श्री माँ : हाँ, पुत्र ! मेरा अभीष्ट तो इस समय यह दूध-दलिया है---- (निकटस्थ पीठिका पर बैठती हुई) जो ठाकुर को ग्रहण करना है----।

: (विरक्त भाव से) इस समय आहार की---- न तो इच्छा है---- और न ही आवश्यकता।

रेन्द्र : किन्तु, माँ का अभीष्ट तो पूरा करना ही होगा, ठाकुर ! (उठकर) काली ! जरा सहारा लगा तो----

(ठाकुर कुछ कहते, इससे पूर्व ही नरेन्द्र और कालीप्रसाद ने मिलकर उन्हें दीवार के सहारे तकिया लगाकर बैठा कर दिया।)

(हाथ बढ़ाकर) लाइए, माँ !

श्री माँ : नहीं, पुत्र ! (ठाकुर की ओर भावुक दृष्टि से निहारकर) पूजा तो भक्त को---- अपने ही हाथों से करनी होती है न ?

नरेन्द्र : (ठाकुर के पास से हटते हुए) ये तो मैं भूल ही गया था, माँ ! (रुककर) सर्वमंगला देवी के आपके ये निराहार व्रत---- कब तक चलेंगे ?

श्री माँ : (दृष्टि झुकाए) जब तक ठाकुर स्वस्थ नहीं हो जाते----

(व्यथा-भीगी निःश्वास के साथ श्री माँ कुछ आगे सरककर दलिया-मिश्रित दूध वाले पात्र को ठाकुर के मुँह से लगा धीरे-धीरे पिलाने का प्रयास करती है, पर ठाकुर कण्ठ-पीड़ा के कारण दूध निगल नही पाते तथा एक खरखराहट की ध्वनि के साथ छटपटा उठते है।

मुँह से बाहर वह निकला दलिया-मिश्रित दूध ठाकुर के वस्त्रों पर फैल जाता है, साथ ही रक्त के लाल रेशे भी दीख पड़ते है।)

नरेन्द्र : (चिन्तित स्वर में) इतने औषधि-सेवन के बाद भी ठाकुर का आन्तरिक रक्तस्राव क्यों नही रुक पा रहा---- कुछ समझ नहीं पड़ता----

(इस बार श्री माँ एक-एक चम्मच ठाकुर के मुँह में उड़ेलना चाहती है, पर वह भी बाहर निकलने लगता है।

बेहाल ठाकुर निषेध भाव से हाथ उठा पात्र को अपने सामने से हटा देते है।

रुऑसी मुद्रा में श्री माँ पात्र को विवश भाव से निकटस्थ ताक मे रखकर ठाकुर का मुँह व वस्त्र पौंछने लगती है।)

डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार के साथ-साथ---- डॉक्टर तुषार मोहन भी कुछ नहीं कर पा रहे हैं----।

(सहसा कालीप्रसाद लपककर ठाकुर के चरण पकड़ लेता है।)

कालीप्रसाद : (सव्यथा) गुरुदेव ! अब हमसे आपकी ऐसी व्यथा देखी नही जाती। (याचना-भरे स्वर में) अब आपको---- अपने लिए न सही---- हमारे लिए ही---- जगन्माता से अपने स्वास्थ्य की प्रार्थना करनी होगी----

(पीड़ा के बावजूद भी ठाकुर कालीप्रसाद की भाव-विह्वलता से गद्‌गद् हो उसका सिर सहलाने लगते हैं।)

ठाकुर : (सस्नेह) जानता है---- मेरी प्रार्थना के उत्तर में जगन्माता क्या कहेंगी ?

कालीप्रसाद : (उत्सुक दृष्टि ठाकुर की ओर पसारते हुए) क्या कहेंगी ?

ठाकुर : (मुस्कराकर) वे कहेंगी---- (मुँह बनाकर) मूर्ख ! तू खा तो रहा है भरपूर---- अपने इतने सारे शिष्यों के मुखों से ? (परिहास-मुद्रा में) तो बता---- फिर इसका क्या उत्तर दे पाऊंगा मैं ?

नरेन्द्र : यदि आप इसे सच मानते हैं, ठाकुर ! तो फिर क्यों नहीं---- अपनी इस कण्ठपीड़ा को हम सबके बीच बाँट देते हैं ?

ठाकुर : देखो, नरेन्द्र ! न देह-धर्म को कोई बाँट सकता है---- और न ही कर्मफल को। (रुककर) उसका हिसाब तो मनुष्य को स्वयं ही चुकाना पड़ता है। ये सब तो सृष्टि की एक सहज प्रक्रिया है।

(ठाकुर के गले की पीड़ा फिर कसक उठती है।

इस बार ठाकुर कराहते नहीं, बल्कि दाँतों तले होंठ दबाकर खामोश व शान्तभाव से पीड़ा को भीतर ही भीतर सहने का सफल-विफल प्रयास करते हैं, पर उनका यह प्रयास नरेन्द्र की पैनी दृष्टि से छुप नहीं पाता।)

नरेन्द्र : अब आप और अधिक न बोलें, ठाकुर ! कुछ देर बिल्कुल विश्राम करें---- अन्यथा कण्ठ-पीडा बढ़ जाएगी।

ठाकुर : तुम लोग आखिर---- पचभूतों के इस 'अनित्य' मिश्रण में 'ईश्वर' को बाँधकर क्यों रखना चाहते हो, रे ? (थक जाने के कारण रुककर थोड़ा साँस लेते हुए) बदलने दो पंचभूतों को अपना पुराना जर्जर रूप---- बनने दो नए-नए शरीर---- और प्रकट होने दो उन शरीरों में ईश्वर को---- नित नए रूपों में----

नरेन्द्र : (सव्यथा) ऐसा न कहिए, ठाकुर ! आपके अभाव की तो कल्पना भी---- हमारे लिए असह्य है।

ठाकुर : (हाँफते हुए) 'अनित्य' के प्रति ये कैसा मोह, नरेन्द्र ? (सावेश) तोड़ डाल इस घेरे को---- और उस 'आत्मरूप परमात्मा' में झाँकने का प्रयास कर---- जो जन-जन के भीतर विद्यमान है।

नरेन्द्र : (भावुक होते हुए) ठाकुर !

(भावमुग्ध दृष्टि से कक्ष का 'शून्य' एकटक भाव से निहारते हुए नरेन्द्र सहसा खो जाता है अपने आप में।

प्रकाश का एक विशाल पुंज जैसे 'भक्क' सा उसके भीतर फूटकर बिखर जाता है। अन्तर्चेतना जैसे उस बिखरे प्रकाश में एकमेक होने लगती है। उसी के साथ नरेन्द्र को अपना अस्तित्व भीतर ही भीतर गहरे में धँसता हुआ प्रतीत होता है।

घबराकर वह ठाकुर को पुकारना चाहता है, पर मुख से आवाज नहीं निकलती, आँखें खोलकर इधर-उधर देखना चाहता है, पर आँखें नहीं खुलतीं-- यहाँ तक कि शरीर भी हिलडुल नहीं पाता।

कुछ ही क्षणों में वह ऐसा अनुभव करने लगता है, जैसे वह है ही

नही। अन्ततः वह पूरी तरह अपने को निश्चेष्ट छोड़ देता है। ठीक उसी क्षण उद्यान-भवन के उत्तरी छोर पर स्थित सर्वमंगलादेवी के मन्दिर की आरती की घण्टियाँ बज उठती हैं।

बातों के बीच साँवली साँझ सघन होकर वातायन की राह कक्ष मे कब गुपचुप आ छुपी, किसी को भी इसका भान तक नही हो पाया और न ही कोई जान पाया कि नरेन्द्र भावमग्नता की किन गहराइयो में डूब-उतरा रहा है।

पलभर के लिए कक्ष के भीतर का सबकुछ जैसे ठहर गया था। किन्तु, शिवानन्द के फुर्ती से उठकर दीपक जला देने के साथ ही कक्ष की लुप्त होने जा रही चेतना सहसा फिर लौट आई।)

शिवानन्द : चलो, नरेन्द्र ! हमारी सामूहिक सांध्य-प्रार्थना का समय हो गया है।

(पर नरेन्द्र न तो हिलाडुला और न ही बोला।)

इस समय श्री माँ हैं ठाकुर के पास----

(फिर भी नरेन्द्र मे कोई प्रतिक्रिया नही हुई।)

(उत्सुक स्वर मे) क्या बात है, भाई ? आज चलना नहीं है क्या ? (उसी ओर मुड़ते हुए परिहास भाव से) अरे ! किस अखण्ड समाधि मे डूब गए भोलेनाथ ?

(पास जा उत्सुकतापर्वूक कंधा पकड़ झकझोरने को ज्योही शिवानन्द हाथ आगे बढ़ाता है, नरेन्द्र की पलकमुंदी निस्पन्द मुद्रा देख घबरा कर हाथ वापिस खीच लेता है।)

(चौककर) गुरुदेव ! ये नरेन्द्र को बैठे-बैठे ही क्या हो गया ?

(विचारमग्न ठाकुर की मुंदी पलकें एक झटके से खुल जाती है।)

ठाकुर : (सहज भाव से) क्या हो गया, रे ?

(कुछ ध्यान से नरेन्द्र का मुख देखते हुए ठाकुर पुन. पलकें बन्द कर लेते है, मानो कुछ हुआ ही न हो।

अन्य सभी लोग नरेन्द्र की ओर देखने लगते है।)

शिवानन्द : (घबराए भाव से) गुरुदेव ! (नरेन्द्र के निस्पन्द शरीर को टटोलते हुए) इसकी देह तो एकदम ठण्डी पड़ी है---- बर्फ-सी। ये न हिलता है---- न डुलता है---- न नाड़ी का कहीं पता---- न धड़कन का।

श्री माँ : (चिन्तित स्वर मे) हे जगत्तारिणी---- माँ भवानी----

(हाथ जोड़कर नेत्र मूंद लेती है।)

(मन ही मन) ये अचानक ही क्या हो गया इसे ? रक्षा करना, माँ !

(कालीप्रसाद भी लपककर पास आ खड़ा होता है।)

कालीप्रसाद : नरेन---- नरेन---- आँखें खोलो----

शिवानन्द : (व्यग्र स्वर में) डॉक्टर बाबू को खबर करूँ, गुरुदेव ? कहीं कोई अनहोनी----

ठाकुर : (नेत्र मूंदे मूंदे ही) रहने दे, शिवा ! नरेन्द्र की चिन्ता छोड़ दे। कुछ नहीं होगा इसे----

(सब विस्फारित नयनों से कभी नरेन्द्र को तो कभी ठाकुर को देखते रहते हैं।)

(नेत्र खोलते हुए) तुम लोग---- अब कुछ देर के लिए यहाँ एकान्त छोड़ दो----। काली !

कालीप्रसाद : (हाथ जोड़कर) आज्ञा, गुरुदेव !

ठाकुर : सबके जाते ही तू कक्ष का द्वार बन्द कर इस पर अर्गला चढ़ा दे और बाहर खड़े रहकर इस बात का ध्यान रख---- कि कोई भी भीतर न आने पाए----

कालीप्रसाद : (सविनय) जी, गुरुदेव !

(श्री माँ सहित सभी का कक्ष से प्रस्थान हो जाने के उपरान्त गुरुदेव की आज्ञानुसार कालीप्रसाद ने द्वार बन्द कर धीरे से अर्गला चढ़ा दी। अब कक्ष में गहन निस्तब्धता के बीच मौन प्रकाश बिखेरती दीपक की शान्त-स्थिर लौ की साक्षी में ठाकुर नरेन्द्र के ठीक सामने एकदम पास पद्मासन लगाकर बैठ गए। दृष्टि अपलक भाव से नरेन्द्र के ध्यानरत मुखमण्डल पर केन्द्रित हो गई।

अगले ही क्षण ठाकुर की वाणी में स्पन्दन हुआ-)

ठाकुर : (खरखराते, किन्तु गम्भीर स्वर में) या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता----

(नेत्र मुंदते हुए) नमस्तस्यै---- नमस्तस्यै---- नमस्तस्यै---- नमो नमः।

(कुछ क्षण मुंदे रहने के उपरान्त ठाकुर के नेत्र फिर खुल गए और पूर्ववत् नरेन्द्र पर टिक गए।

नरेन्द्र की आँखें बन्द थी तथा देह बिल्कुल अचल। मुख पर घनी गम्भीरता एवं अपूर्व शान्ति विद्यमान थी।

कुछ क्षणों तक अपनी पैनी दृष्टि से नरेन्द्र की मुखाकृति का अध्ययन करते रहे ठाकुर, फिर न जाने क्या सोचकर उन्होंने उसके माथे पर अपना दक्षिण हस्त रख दिया।

स्पर्श के साथ ही समाधिमग्न नरेन्द्र की देह तीन बार काँपी, मानो मेघाच्छन्न आकाश में विद्युत् धारा कौंध-कड़क उठी हो। फिर जैसे सब कुछ शान्त हो गया।)

(शान्ति की श्वास लेकर) जागो, पुत्र ! तुम्हारी साधना पूर्ण हुई।

(नरेन्द्र हौले-से आँखें खोलता है।

मुख पर अलौकिक शान्ति छिटक रही थी उसके।)

: (दोनों हाथ जोड़ प्रणति-मुद्रा में) मैं धन्य हुआ, गुरुदेव !

ठाकुर : तुम्हें शिष्यत्व प्रदान कर मैं स्वयं को भी कृतकृत्य अनुभव कर रहा हूँ, पुत्र !

नरेन्द्र : (मस्तिष्क पर जोर डालते हुए) मैं सहसा 'शून्य' क्यों हो गया था, गुरुदेव ? उस क्षण मुझे ऐसा क्यों लगा---- जैसे मैं अपने आसपास बिखरे प्रकाश के उफनते महासागर में लय होकर अस्तित्वहीन होता जा रहा हूँ।

ठाकुर : यही तो 'निर्विकल्प समाधि' है, पुत्र !---- जो साधना का अन्तिम सोपान होती है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के बीच लेशमात्र भी अन्तर नहीं रह जाता। इस त्रयी का अभेदत्व ही 'निर्विकल्प समाधि' है। (भावुक स्वर में) मुझे प्रसन्नता है कि इसे सफलतापूर्वक पूर्ण करने वाले तुम मेरे पहले शिष्य हो।

नरेन्द्र : (भावुक स्वर में) गुरुदेव !

ठाकुर : मैंने तो प्रथम दिन ही तुम्हारी मुखाकृति से जान लिया था कि तुम दैवी शक्ति के अंश हो। तुम्हारे भीतर विवेक की सात्विक ज्योति अहर्निश प्रकाशमान है। (रूककर) आज नरेन्द्र का---- विवेकानन्द के रूप में पुनर्जन्म हुआ है। (भावुक स्वर मे) विवेकानन्द बनकर जीवन और जगत के अन्धेरे कोनों को नई चेतना, नया प्रकाश प्रदान करो, पुत्र !

विवेकानन्द : आपका आशीर्वाद मेरा मार्गदर्शन करेगा, गुरुदेव !

(कहते हुए विवेकानन्द ने अपना माथा टिका दिया गुरु के चरणों में।)

ठाकुर : (विवेकानन्द का माथा थपकाते हुए) आज मैं अपनी सम्पूर्ण साधना का फल तुम्हें सौंपकर सच्चे रूप में फकीर हो गया हूँ, पुत्र ! मुझे विश्वास है---- तुम इसका सदुपयोग करोगे।

विवेकानन्द : (माथा उठा हाथ जोड़कर रुंधे कण्ठ से) गुरुदेव !

(भावातिरेक मे विवेकानन्द के नेत्रों से दो पतली धाराएँ गुपचुप बह निकलती हैं।)

ठाकुर : (थके स्वर मे) आज मैं---- एकदम हल्का हो गया हूँ, रे ! लगता है---- जैसे मैं हवा में उड़ रहा हूँ---- किसी मुक्त पक्षी की भाँति----

(थके भाव से ठाकुर ठण्डी साँस लेते हैं तथा निढालभाव से तकिए पर सिर टिका अपना शरीर एकदम ढीला छोड़ देते है। विवेकानन्द ठाकुर की इस बदलती हुई दशा को देख एक बारगी घबरा जाते है-)

विवेकानन्द : (सव्यथा) ऐसा क्यों कहते हैं, गुरुदेव !

(बेचैन ठाकुर की छाती सहलाने लगते है।)

विवेकानन्द : (मन ही मन) माँ ! माँ !! मेरे ठाकुर की व्यथा लो हर लो, इनकी पीड़ा नहीं देख सकता, माँ ! नहीं देख सकता----

(सहसा बाहर बादल गर्जना कर उठते हैं।)

ठाकुर : (अधमुँदी पलकों और शिथिल स्वर में) पहले दो घूँट जल पिला, पुत्र और फिर सभी को बुला ले। मेरे बिना वे दुखी हो रहे होंगे।

(विवेकानन्द उठकर जलपात्र ले दो चम्मच ठाकुर के मुँह में उंडेलते हैं जिन्हें वे बहुत कठिनाई से निगल पाते हैं।

जलपात्र यथास्थान रख विवेकानन्द लपककर द्वार को झंझोड़ते हैं-)

विवेकानन्द : (पुकारकर) काली---- शिवा---- दाशरथि---- शीघ्र आओ----

(तत्क्षण द्वार खोल तीनों ही भीतर आ जाते हैं।)

शिवानन्द : (आशंकित स्वर में) क्या बात है--- जल्दी कह--- ठाकुर स्वस्थ तो हैं ?

विवेकानन्द : शिवा ! श्री माँ को तुरन्त लिवा ला----

(शिवानन्द उल्टे पाँवों बाहर दौड़ जाता है।

काली प्रसाद, दाशरथि व विवेकानन्द ठाकुर को घेरकर बैठ जाते हैं।)

गुरुदेव ! श्री माँ आ ही रही हैं---- शिवा गया है उन्हें लिवाने----

काली प्रसाद : गुरुदेव ! कैसा जी है ?

दाशरथि : मैं अभी जाता हूँ---- डॉक्टर बाबू के पास----

ठाकुर : रहने दे, पुत्र ! अब न डॉक्टर कुछ कर सकेगा---- न कविराज---- (रुककर) 'भवरोग' से अब तक बचा है कोई ?

(इस बीच शिवानन्द के पीछे पीछे श्री माँ मुख पर बेहाली लिए दौड़ी चली आती है।)

श्री माँ : (ठाकुर का हाथ पकड़कर पीठिका पर बैठती हुई) कैसा जी है आपका---- ठाकुर ?

ठाकुर : (थकी मुस्कान के साथ) ठाकुर तो-- मुक्त पवन का झौंका बन गया है अब !

(ठाकुर की बातों और स्थिति को देख-समझ श्री माँ रुआँसी होने लगती है।)

(विवेकानन्द का हाथ पकड़कर) पुत्र ! तू यहाँ बैठ मेरे पास---- और 'निर्वाण षट्क' सुना---- बहुत दिन हो गए तेरे कण्ठ का गायन सुने हुए----

(विवेकानन्द भावातिरेक के कारण संयत नहीं हो पाता तथा गाने का प्रयास करने पर कण्ठावरोध होने लगता है।)

सुना, पुत्र ! मेरी प्रबल इच्छा है----

विवेकानन्द : (भीगे कण्ठ से प्रयत्नपूर्वक गाता हुआ-)

'न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुखं
न मंत्रो न तीर्थो न वेदा न यज्ञाः।

अहं भोजनं नैव भोज्य न भोक्ता-
रिचदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥'

(ठाकुर सीधे लेटकर शान्त भाव से कक्ष की छत पर अपनी दृष्टि टिका देते हैं।)

'न मृत्यु र्न शंका न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्मः।
न बंधु र्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
रिचदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥'

(बाहर बादलों की गर्जना व तेज हवा की 'साँय-साँय' की ध्वनियाँ गहराती खामोश रात में स्पष्ट सुन पड़ती है।)

'अह निर्विकल्पो निराकार रूपो
विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।
न चासं गतं नैव मुक्तिर्न मेय-
रिचदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।'

(भावमग्न विवेकानन्द के मुँह से 'शिवोऽहं---शिवोऽह' का निरन्तर उच्चारण होता रहा और ठाकुर के शान्त मुखमण्डल पर टिकी उनकी अपलक आँखो से दो धाराएँ बहती रही।

इस बीच ठाकुर के देह-रोम कब खड़े हो गए और दोनों पुतलियाँ नासिकाग्र पर कब केन्द्रित हो गईं, व्यथा और बेसुधि में कोई नही जान पाया।

सहसा श्री माँ को कुछ आभास हुआ।

उन्होंने ध्यान से ठाकुर को देखा- देखती रही कुछ देर और अचानक एक जोरदार चीत्कार किया उन्होने -)

श्री माँ : (करुण चीत्कार के साथ) ओ---- माँऽऽऽ---- यह क्या किया तूने ?

(और बिलखती हुई पछाट खाकर ठाकुर की देह पर जा गिरी। विवेकानन्द का 'शिवोऽह' जाप एक झटके से रुक गया।

सभी के कलेजे काँप उठे।

बाहर आकाश में बिजलियों की कड़क चमक प्रारम्भ हो गई तथा भीतर आसमान फाड़कर धारासार वर्षा इस सबके बीच हतप्रभ-भाव से जड़ बना अवाक खड़ा था नरेन्द्र अर्थात् विवेकानन्द। ठीक वैसे ही जैसे तूफानी लहरो और तेज हवाओं के बीच हिचकोले खाती कोई नौका हो।)

अंक : तीन

दृश्य : छह

स्थान : काशीपुर का उद्यान-भवन

समय : प्रात. काल

(लोगों की निरन्तर आवाजाही, ज्ञान-गम्भीर तर्कों की शालीन उठापटकियों, गरमागरम आध्यात्मिक चर्चाओं एवं बौद्धिक हास-परिहास की हलचलों के स्थान पर गहरे विषाद, कचोट भरे सन्नाटे तथा एक अ.ओय रिक्तता की पीड़ा में आकण्ठ डूबा काशीपुर के उद्यान-भवन का चप्पा-चप्पा।

एक ओर किंकर्तव्यविमूढ़ भाव से स्तब्ध खड़ा माँ सर्वमंगला का मन्दिर तथा उस पर यंत्रचालित-सी फहराती ध्वजा।

सघन हरीतिमा का पत्ता-पत्ता जैसे ठाकुर को तलाश रहा था।

गंगा भी उदास-उदास बह रही थी। न लहरो में कही चपलता दीख पड़ रही थी, न जलपँखियो मे।

ठाकुर के अप्रत्याशित रूप से चले जाने से सहसा भीतर ही भीतर बुझ गया विवेक किनारे से कुछ हटकर अग्नि जला सूखी घास की आहुतियों पर आहुतियाँ दिए जा रहा था पागलो की भाँति - सिर मुँडाए, भगवा पहने।

गंगा से नहाकर निकले शिवानन्द व कालीप्रसाद कुछ क्षण आश्चर्यभाव से उसका पागलपन देखते रहे–देखते रहे, पर अधिक देर अपने को चुप न रख सके–)

शिवानन्द : ये क्या कर रहा है तू---- नरेन्द्र ?

विवेकानन्द : (दृष्टि उठाकर) नरेन्द्र नहीं---- विवेक कह---- विवेक। (रुककर) ठाकुर ने---- इसी रूप में पुनर्जन्म प्रदान किया है मुझे----

(और दृष्टि झुका फिर सूखी घास अग्नि मे डालने लगता है।)

कालीप्रसाद : अब तक कितनी घास---- अग्नि में स्वाहा कर चुका है तू---- इसका कुछ हिसाब है तुझे ?

शिवानन्द : प्रकृति तो हमारा जीवन है, रे ! उसके प्रति ऐसी निर्दयता---- क्या शोभा देती है तुझे ?

विवेकानन्द : (अग्नि में घास डालने का क्रम जारी रखते हुए) यह कोरी 'घास' नहीं है, शिवा !

शिवानन्द : (चौंककर) तो फिर ?

विवेकानन्द : (फीकी मुस्कान के साथ) ये तो मेरे भीतर का बचा-खुचा---- अटका रह गया 'संसार' है।

(एक लम्बी साँस लेते हुए अग्नि में सूखी घास डालता रहता है बिना रुके।)

शिवानन्द : पर क्या---- 'संन्यासी' को इतनी कठोरता उचित है ?

विवेकानन्द : 'कामना' के 'वृक्ष' को 'अनासक्ति' के 'कुठार' से काटे बिना---- कैसे छूटेगा 'संसार'---- जो मनुष्य के भीतर तक अपनी जड़ें धँसाए रहता है।

शिवानन्द : (एक क्षण सोचते हुए) कहीं इस 'कुठार' के प्रहार में तूने---- जल्दबाजी तो नहीं कर डाली, विवेक ?

विवेकानन्द : नहीं, शिवा ! (रुककर) ठाकुर ने मुझसे वचन लिया था---- कि उनके जीवित रहते मैं संसार-त्याग नहीं करुँगा। (लम्बी साँस लेते हुए) तदनुसार अब मेरे संन्यास का समय आ गया----

कालीप्रसाद : पर पीछे---- तेरे घर-परिवार का क्या होगा ?

विवेकानन्द : माँ और भाई नानी के पास रहने चले गए हैं---- और घर का मुकदमा बैरिस्टर बनर्जी पूरी रुचि के साथ देख रहे हैं। वे मेरे दूर के रिश्ते में मामा लगते हैं। (रुककर) और यों भी---- मैं इस सबसे बहुत दूर चला आया हूँ। तिस पर अब तो परिव्राजक बनकर अपने हाथों---- अपना ही श्राद्ध और पिण्डदान कर चुका हूँ। (भावमग्न स्वर में) आज से मेरी कोई जाति नहीं, कोई गोत्र नहीं। अब मैं सब प्रकार के सामाजिक विधि-निषेधों से मुक्त हो चुका हूँ।

शिवानन्द : किन्तु---- अभी तुम ठाकुर के दायित्वों से कहाँ मुक्त हुए हो ?

(विवेक उठकर गम्भीर भाव से इधर-उधर टहलने लगता है।)

इस समय हमारे सामने सबसे बडा प्रश्न है---- इस उद्यान-भवन का।

विवेकानन्द : (गम्भीर मुद्रा में) सचमुच यह बहुत जटिल प्रश्न है। (सोचते हुए) उद्यान-भवन को आगे भी किराए पर रखा जाए---- या खाली कर दिया जाए ? कठिनाई यह है कि खाली करने पर श्री माँ को कहाँ रखा जाएगा ? (रुककर) और यदि खाली न करें... तो इसके किराए और यहाँ रहने वालों के खर्च का क्या हो ?

शिवानन्द : रामदादा का कहना है---- उद्यान-भवन को खाली कर श्री माँ को कुछ समय के लिए छोटे भवन में स्थानान्तरित कर दिया जाए तथा ठाकुर का अस्थिकलश एवं उनके स्मृतिचिह्न उन्हें दे दिए जाएँ---- जिन्हें

काँकुड़गाछी में अपनी भूमि पर ठाकुर का स्मारक बनाकर सुरक्षित रखेंगे।

कालीप्रसाद : श्री माँ अभी स्वयं ही निश्चय नहीं कर पा रही हैं कि वे कहाँ रहेंगी ? (रुककर) कभी वे वृन्दावन जाने को कहती हैं---- तो कभी वापिस कामारपुकुर लौट जाने की इच्छा प्रकट करती हैं।

विवेकानन्द : निर्णय---- श्री माँ की इच्छानुसार ही होना चाहिए। (अचानक कुछ सोच चौंकते हुए) चलो---- चलते हैं। अब अधिक समय नहीं रह गया है मेरे पास।

(उद्यान-भवन की ओर चल देता है।)

शिवानन्द : (चौंककर) किस समय की बात कह रहा है तू ?

(विवेक न उत्तर देता है-न रुकता है।

यह देख शिवानन्द और कालीप्रसाद भी विवशभाव से उसके पीछे-पीछे चल देते है।

कुछ ही क्षणों में वे तीनों सीढ़ियाँ पारकर उद्यान-भवन की ऊपरी मंजिल वाले श्री माँ के कक्ष के पास पहुँच कर बाहर ही रुक जाते है। श्री माँ की व्यथा की कल्पनामात्र से ही विचलित हुए वे तुरन्त ही भीतर जाने का साहस नही जुटा पाते तथा सहमी दृष्टि लिए द्वार की आड़ से भीतर झाँकते हैं।

भीतर गहन निस्तब्धता के बीच दीवार से पीठ टिकाए वातायन से बाहर के शून्य में डूब-उतरा रही भावोद्वेलित श्री माँ ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो सहसा जड़ से उखाड़कर किसी जनशून्य मार्ग पर क्रूरतापूर्वक फेंक दी गई कोई निरीह, निस्सार एव कुम्हलाई लतिका हो।

सामने श्री माँ द्वारा उतारकर रख दिया गया अपना कण्ठहार तथा पास ही निर्दयतापूर्वक फाड़कर एक ओर पटक दिया गया उनकी साड़ी का लाल चौड़ा किनारा देखकर तो विवेक का कलेजा ही जैसे मुँह को आने लगा।

कुछ क्षण दुविधा के बीच असहायभाव से झूलते रहने के बाद अन्तत जैसे-तैसे साहस जुटा विवेक भीतर प्रविष्ट हुआ।

पीछे-पीछे ही शिवानन्द और काली प्रसाद भी।

श्री माँ को उनके आगमन का आभास तक नहीं हो पाया।

विवेक को पुनः कुछ साहस जुटाना पड़ा-)

विवेकानन्द : (दोनों हाथ जोड़कर सहमे स्वर में) प्रणाम, माँ !

(चौंककर श्री माँ ने अपना आँसू-भीगा मुखड़ा उठाया तो देखकर धक्क रह गई-'भगवा वस्त्रों मे सन्यासी बना नरेन्द्र। सिर मुँडा हुआ

भव्य भाल, 'दप् दप्' करता हुआ तेजस्वी मुखमण्डल, मानो ठाकुर की सम्पूर्ण दिव्यता को धारण कर दिव्य लोक से धरती पर उतरा कोई तेजपुंज हो।')

श्री माँ : (कातर स्वर में) यह क्या किया तूने, पुत्र ?

विवेकानन्द : (गम्भीर भाव से) मुझे ठाकुर की इच्छा पूरी करनी है, माँ ! उनका सन्देश---- उनकी शिक्षाएँ---- जन-जन तक प्रसारित-प्रचारित करनी हैं।

श्री माँ : (चौंककर) निर्णय करने से पूर्व तूने ये भी सोचा---- पीछे क्या होगा ?

विवेकानन्द : यहाँ आपके पुत्रों की कोई कमी थोड़े ही है, माँ ? (रुककर) गिरीश घोष है, दाशरथि सान्याल है, हृदय है, सुरेन्द्रनाथ मित्र है---- और (पीछे की ओर संकेत कर) शिवा और काली हैं----

(शिवानन्द और कालीप्रसाद विवेक के पीछे से आगे आ श्री माँ को प्रणाम करते है।)

ये लोग देखेंगे सब। (रुककर) ठाकुर के स्मारक के लिए गंगा किनारे बड़नगर में मित्र महाशय ने अपने व्यय से एक भवन ले लिया है। वहीं होगा हमारा पहला मठ।

श्री माँ : बैठोगे नहीं, पुत्र ?

(विनयभाव से विवेक श्री माँ के पास ही भूमि पर बैठता है। उसके पास ही शिवानन्द और कालीप्रसाद भी।)

मैं कुछ दिन कामारपुकुर जाना चाहती हूँ, पुत्र !

विवेकानन्द : वहाँ आपका अब कौन रह गया है, माँ ? जो----

श्री माँ : (भावुक स्वर मे) क्या---- ठाकुर नहीं होंगे वहाँ मेरे पास ---- मेरी स्मृतियों में ?

(नरेन्द्र की आँखों मे तरलता चमक आती है।)

विवेकानन्द : (भावुक स्वर में) वे कहाँ नही हैं, माँ ? (इधर उधर दृष्टि डालते हुए) यहाँ---- वहाँ ---- सर्वत्र ---- हम सभी के रोम-रोम में समाकर---- एक से अनेक हो गए हैं ठाकुर---- 'एकोअह बहुस्याम'।

(पलभर के लिए भावातिरेक के कारण सहसा चुप्पी छा जाती है।)

आप चिन्ता न करें, माँ ! आपको कामारपुकुर पहुंचाने की सारी व्य[illegible] जाएगी। (रुककर) हृदय आपके साथ जाएगा---- रेल से----

श्री माँ : पर मैं रेल से नहीं जाऊँगी, पुत्र !

विवेकानन्द : (चौंककर) सो क्यों ?

श्री माँ : यह मेरी तपस्या-यात्रा है, पुत्र ! अत. पैदल ही जा[illegible] कष्ट क्यों न उठाने पड़ें मुझे ! (रुककर) तिस[illegible] में पैदल ही यात्रा करेंगे-- तो भला मैं कैसे रेल[illegible]

(पलभर मौन हो जाता है।)

'सर्व मंगल मांगल्ये शिवे ! सर्वार्थ साधिके,
शरण्ये त्रयम्बके गौरि ! नारायणि नमोस्तुते॥'

(धीरे-धीरे पलक खोल अत्यन्त शान्त भाव से करबद्ध विवेक उ खड़ा होता है।)

श्री माँ : पुत्र ! जाने से पूर्व अपनी माँ से नहीं मिलोगे ?

विवेकानन्द : (दोनों हाथ जोड़े हुए) आप हैं तो मेरी माँ ! जगन्माता का निवास आपके भीतर। ऐसे में अब किस माता की आवश्यकता रह गई है मुझे ?

(कहते हुए अपनी भावाश्रुपूरित दृष्टि को विनयभाव से श्री माँ की ओ पसार देता है विवेक किसी भिखारी की झोली के समान)

श्री माँ के नेत्र छलछला आते हैं।)

श्री माँ : (आशीर्वाद-मुद्रा में हाथ उठाए) जाओ, पुत्र ! मंगलमय हो तुम्हा मार्ग----

(करबद्ध भाव से पुन. श्री माँ को प्रणाम कर अकेले और नामही अनजान पथिक के समान भारत की विशालता मे खो जाने के लि धीमे-धीमे चल दिया वह 'ज्योतिपुरुष'। मानो कोई पक्षी मुक्त भाव पंख फैलाए अनन्त नीलाकाश में उड़ चला हो।

श्री माँ आशीर्वाद-मुद्रा में उठे हाथ के साथ साश्रु नयनों से उसे जा हुए निहारती रही---निहारती रही तब तक, जब तक कि वह नेत्रों से ओझल नही हो गया।)

□

महत्वपूर्ण प्रश्न

वस्तुनिष्ठ (वहुविकल्पीय) प्रश्न

1. पीशी बूआ द्वारा नरेन्द्र को 'बोडू' कहा जाना किस भाव का द्योतक है ?
   (अ) बुद्धूपन (ब) शरारती
   (स) मंद बुद्धि (द) तार्किक
   (य) चतुर ( )

2. माँ भुवनेश्वरी ने बालक नरेन्द्र के 'केलाबाड़ी' जाने से क्यों रोका ?
   (अ) नरेन्द्र की परीक्षा निकट थी।
   (ब) यह स्थान बहुत दूर घने जंगल में था।
   (स) वहाँ भूत का निवास था।
   (द) क्योंकि वह डाकुओं का ठिकाना था। ( )

3. भुवनेश्वरी नियमित रूप से सोमवार का व्रत तथा प्रतिवर्ष काशी के वीरेश्वर मन्दिर मे अनुष्ठान क्यों करवाती थी ?
   (अ) परिवार की सुख-समृद्धि के लिए।
   (ब) नरेन्द्र को 'संन्यासी' बनने मे रोकने हेतु।
   (स) पति के दीर्घ व सुखी जीवनी की कामनापूर्ति के लिए।
   (द) वंश-परम्परा के पालनार्थ। ( )

4 ठाकुर से नरेन्द्र की प्रथम भेंट कहाँ हुई ?
   (अ) केशवचन्द्र सेन के यहाँ।
   (ब) दक्षिणेश्वर मन्दिर में।
   (स) सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पर।
   (द) ब्रह्मसमाज के समारोह में। ( )

5. 'परिव्राजक' बनकर विवेकानन्द ने अपने ही हाथों अपना क्या किया ?
   (अ) घर-परिवार का त्याग।
   (ब) नौकरी का त्याग।
   (स) सासारिक कामनाओं का त्याग।
   (द) श्राद्ध और पिण्डदान। ( )

लघूत्तरात्मक प्रश्न

6 "किन्तु, इतना वडा मत हो जाना, वेटे । कि तेरे लिए दुलारने को उठे मेरे हाथ तुझ तक पहुँच ही न पाएँ।" नरेन्द्र के प्रति भुवनेश्वरी के इस कथन में कौनसी आशंका है ?

7. महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'परमतत्व' को पाने का कौनसा मार्ग नरेन्द्र को सुझाया था ?
8. नरेन्द्र ने माँ भुवनेश्वरी तथा पीशी बूआ को जो वचन दिया था, उसका क्या तात्प था ?
9. नरेन्द्र ने अपनी बहिन किरण के द्वारा भोजन परोसने की बात का क्यों विरोध किया ?
10 ठाकुर के यहाँ स्त्रियों के लिए प्रणाम का निषेध क्यों था ?
11 ठाकुर ने नरेन्द्र से क्या वचन लिया था ?
12. "अब तक कहाँ थे, बबुआ ? हमने तो पूरा कलकत्ता ही छान मारा तुम्हारे लिए। मुंशीजी ने नरेन्द्र को ऐसा क्यों कहा ?
13. "मुझे आश्चर्य है, माँ ! इस घर में रहते हुए भी मैं यह सब क्यों नहीं देख-समझ पाया ?" इस कथन के आधार पर बतलाइए कि नरेन्द्र क्या नही समझ पाया ?
14. नरेन्द्र ने जगन्माता से क्या 'दुर्लभ' माँगा ?
15. प्रतापचन्द्र हाजरा ठाकुर की किस बात पर कुपित हुआ ?
16. नरेन्द्र ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के स्कूल की नौकरी क्यों छोड़ दी ?
17. नरेन्द्र ने स्वयं को 'जन्म-जन्म का भूखा' क्यों कहा ?
18. श्री माँ ने ठाकुर की मृत्यु से उत्पन्न कामारपुकुर जाने के लिए रेल से यात्रा करना क्यों अस्वीकार कर दिया ?

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

19. अर्थ स्पष्ट कीजिए -

भावसमाधि, परमहस, प्रकारान्तर, मरीचिका का सत्य, अस्ति, वाक्पटु, निर्विकल्प समाधि, त्रिविध बयार, पंचभूत, परिव्राजक

20. अन्तर समझाइए -

कृतज्ञ-कृतघ्न, विधि-निषेध, अस्ति-नास्ति, प्रसारित-प्रचारित, नित्य-अनित्य

21. निम्नांकित शब्दों में उपसर्ग व प्रत्यय बतलाइए -

स्वप्नवत्, चमत्कारिक, अबूझ, यथावत्, सविनय, अनित्य,

22. ठाकुर किस रोग से ग्रस्त थे ?
23. ठाकुर ने 'नियति की लीला' और 'देह का धर्म' किसे कहा है ?
24. ठाकुर के निधन के उपरान्त काशीपुर के उद्यान-भवन में नदी-तट पर बैठा नरेन्द्र 'सूखी घास' को अग्नि में क्यों जला रहा था ?
25. 'पेट में दाढ़ी' का आशय समझाइए

क प्रश्न

५० .' किसे कहा गया है ? क्यों ?

27. 'ज्योतिपुरुष' नाटक का संक्षिप्त कथासार लिखते हुए उसके कथा-संयोजन की समीक्षा कीजिए।

28. "ज्योतिपुरुष की कथा मानवता, प्रेम, करुणा, सहजता, समानता व कोमल संवेदना को अपने में समेटते हुए सहज ही अपने गंतव्य तक पहुँच गई है", क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

29. 'ज्योतिपुरुष' नाटक के विविध प्रसंगों में किस प्रसग ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया और क्यों ?

30. "ज्योतिपुरुष' के कथा-संयोजन में रचनाकार ने 'कल्पना' की उड़ान के बीच भी 'सत्य' की रक्षा करने में पूर्णतः सफल रहा है", क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? सकारण विवेचन कीजिए।

31. "ज्योतिपुरुष' नाटक संघर्षों की तेज आग में तपकर निखरे व्यक्तित्व की कीर्तिकथा है।" इस कथन के सन्दर्भ में कथानायक नरेन्द्र की चारित्रिक विशेषताओं की चर्चा कीजिए।

32. नाटक को रोचक और जीवन्त बनाने में 'संघर्ष-योजना' के महत्व की चर्चा करते हुए बतलाइए कि 'ज्योतिपुरुष' नाटक में आन्तरिक और बाह्य सघर्षों का संयोजन कहाँ-कहाँ किस-किस रूप में हुआ है ?

33. 'ज्योतिपुरुष' नाटक में किस चरित्र ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया ? क्यों ?

34. निम्नांकित चरित्रों की विशेषताएँ लिखिए —

    (अ) बैरिस्टर विश्वनाथ दत्त (ब) ठाकुर (स) मुंशीजी (द) मिस्टर हेस्टी

    (य) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (र) भुवनेश्वरी (ल) पीशी बूआ (व) श्री माँ

35. शीर्षक की सार्थकता की दृष्टि से 'ज्योतिपुरुष' शीर्षक पर विचार करते हुये बतलाइये कि क्या यह नाटक के उद्देश्य को इगित करता है ?

36. 'ज्योतिपुरुष' नाटक की मूल संवेदना को स्पष्ट करते हुये उसके रचनागत उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।

37. भावार्थ लिखते हुए बतलाइये कि यह कथन किसने, किस प्रसंग में किससे कहा है ?

    (अ) बाह्य दृष्टिवाले मात्र उस 'भिन्नता' को ही देखते हैं, इसीलिए उन्हें हर धर्म, हर सस्कृति अलग प्रतीत होती है। ऐसे में बुद्धि भी तो यह नही सोच पाती कि भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार में भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित टहनियों का आधार बीजरूप बिन्दु तो एक ही है।

    (ब) इतिहास उठाकर देखो तो पाओगे कि विकास की गति सदैव 'एकरूपता' से 'बहुरूपता' की ओर ही रही है। एक 'भावात्मक अन्तर्धारा' बहुरूपीय स्थिति में भी उसे परस्पर जोड़े रहती है।

(स) 'कामना' के वृक्ष को 'अनासक्ति' के कुठार से काटे बिना कैसे छूटेगा 'संसार' के मनुष्य के भीतर तक अपना सिर धँसाए रहता है।

(द) वो तो दिखने को तैयार बैठा है हर समय हर स्थान पर, किन्तु उसके लिए 'दृष्टि' भी तो वैसी ही होनी चाहिए और फिर 'होने' के लिए क्या 'दीखना' आवश्यक है ?

(य) ऐसी 'दुविधा' तब आती है, नरेन्द्र ! जब हमारी चेतना 'वस्तु-सत्ता' की सीमाओं में अटककर रह जाती है और उसमें निहित 'भाव' तत्व की अनुभूति नहीं कर पाती। सम्भवतः इसीलिए तुम उस तक पहुँच नही पा रहे हो।

38. "माँ के दूध पर पहला अधिकार तो सन्तान का ही होता है न, श्यामा ?" भुवनेश्वरी के इस कथन से उसके चरित्र की कौनसी विशेषता परिलक्षित होती है ?

39. "अन्याय तो इसमें है, जमना। मगर ये सब (लम्बी साँस लेती हुई) अब स्त्री की नियति ही बन गया है।" पीशी बूआ के इस कथन से तत्कालीन समाज की किस समस्या का संकेत मिलता है ?

40 'ज्योतिपुरुष' नाटक की संवाद-योजना के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट कीजिए।

41. "'ज्योतिपुरुष' नाटक की भाषा सरल एवं सूक्तिमयी होने के साथ ही साथ भावानुकूल भी है", इस कथन के सन्दर्भ में नाटक की भाषागत विशेषताएँ बतलाइए।

42. यदि आपको अभिनय करना पडे तो आप 'ज्योतिपुरुष' नाटक के किस चरित्र की भूमिका निभाना पसन्द करेंगे ? क्यों ?

43 'ज्योतिपुरुष' नाटक की शैली एवं शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

44. 'ज्योतिपुरुष' नाटक में तात्विक दृष्टि से रचनाकार का ध्यान किस बिन्दु पर अधिक रहा है ?

45. स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी के नाटक साहित्य की प्रगति, स्वरूप एवं सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए।

□